हिंदु-धर्म-मीमांसा.



लेखकः—डॉ० शि० ग० पटवर्धन, अमरावती (विदर्भ.)

हिंदु-धर्म-मीमांसा.

लेखक

डॉ० शिवाजी गणेश पटवर्धन,

M. B. (Homoeo)

अमरावती, (विदर्भ).

प्रकाशक

गुलाबचंद वैद्य

अमरावती.

मुद्रकः— बलवन्त गणेश खापर्डे,

" अरुण " छापखाना, अमरावती.

सन १९२४ इ.

मूल्य १ रु.

असतो मा सद्गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्माऽमृतं गमय ।

ॐ

ईश्वरस्य स्वरूपं हि ओंकारे व्यक्ततां गतम् ।
आत्मोन्नतौ साधनानामुपास्ये नाग्रहस्तथा ॥ १ ॥
श्रेयसेऽभ्युदयायैव संस्काराचारधर्मवान् ।
मन्यमानः कर्मजन्म स वै हिंदुरिति स्मृतः ॥ २ ॥

ॐ परमात्मा का व्यक्तस्वरूप है ऐसा जिस का विश्वास है, आत्मोन्नति के लिए कोई भी साधन का अवलम्बन करने में और कोई भी उपास्यदेवता मानने के लिए जिसे पूरी स्वतन्त्रता है, जिस के आचार, विधि और संस्कार अभ्युदय और निःश्रेयसमूलक हैं और जो पुनर्जन्म और कर्म मानता है, उसे हिंदु कहना चाहिये ।

भूमिका।

इस पुस्तक का लेखक कोई वैज्ञानिक या दार्शनिक नहीं है और न उसे विद्वान या साहित्यज्ञ होने का ही दावा है। ऐसी दशा में ऐसे गम्भीर और कहीं २ विवादग्रस्त विषयपर कलम उठाने का लेखक अधिकारी नहीं है। तथापि हिन्दूसमाज अपने धर्म की जानकारी से जितना दूर है, उस स्थिति का अवलोकन करते हुए लेखक को प्रतीत होता है, कि आजकल हिन्दू के विषय में यदि यह कहा जाय, कि जो अपने धर्म से अपरिचित है वही हिन्दू है, तो इस में अत्युक्ति नहीं। बस, ऐसी ही परिस्थिति ने लेखक को इस क्षुद्र पुस्तक लिखने के लिए उत्साहित किया है।

कुछ दिनों के पहले "Buddhist Catechism" नाम की एक छोटीसी पुस्तक बौध्दधर्म के विषय में प्रश्नोत्तररूप में मुझे दिखलाई दी। रे० लेडबीटर ने सिलोन के विद्यार्थियों के लिए उस की रचना की थी। इस के अवलोकन के पश्चात् विचार हुआ कि आजकल हिन्दूधर्म का अभ्यास विद्यार्थियों को करने के लिए तथा हिंन्दूधर्म का परिचय सर्वसाधारण को सुलभता से हो जाने के लिए ऐसे ही ढंग की पुस्तक की आवश्यकता है, जिस में हिन्दूधर्म के अन्तर्बाह्य स्वरूप का प्रश्नोत्तररूप में दिग्दर्शन हो और विवादग्रस्त विषयोंपर स्वतंत्र मत का भी संक्षिप्त विवेचन हो जो समयानुकूल और धर्मबाह्य भी न हो। इसी उद्देश से प्रेरित होकर विषयनिर्वाचन, धर्मग्रन्थों के प्रमाण, तथा प्रश्नोत्तर का पूर्वस्वरूप मातृभाषा मराठी में संगृहित करना शुरु कर दिया और इसे मराठी में ही पूर्ण करने का पहले विचार था। परन्तु मातृभाषा मराठी का मोह हिन्दी के सामने कम करना पडा, वह इसी लिहाज से कि राष्ट्रभाषा हिन्दी में पुस्तक लिखने से उस का उपयोग मराठी की अपेक्षा विशेष और अधिक होगा।

श्रीयुत बळवंतराव खापर्डे साहब ने कुछ भी मुनाफा न लेकर यह पुस्तक छापकर दी इसलिये मै आपका बडा ऋणी हूं।

मेरी मातृभाषा मराठी होने के कारण इस पुस्तक लिखने में मेरे प्रिय मित्र श्री० गुलाबचन्द्र वैद्य की विशेष सहायता न मिलती तो शायद ही इस रूप में पुस्तक पाठकों के सामने उपस्थित होती। अस्तु।

इस पुस्तक के पढ़ने से यदि किसी को हिन्दूधर्म के विशेष अध्ययन की इच्छा हुई तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

श्रीदत्तजयंति मार्गशीर्ष शु. १४ सं. १९८१
अमरावती

डॉ० शि० ग० पटवर्धन

हिन्दूधर्ममीमांसा ।

विषयसूची ।

श्रेष्ठता—संन्यासमार्ग में कर्म छोडनेपर जोर देने का सबब—गीता में कर्मयोगाचरण पर जोर देने का सबब—गीता के मत में बन्धन का कारण—ज्ञानी को पूर्ण ज्ञान होने के बाद कर्म करने की जरूरत—कर्मयोगाचरण में मानसिक स्थिति—फलाकांक्षावर्जन—कर्तृत्वाभिमानपरित्याग—ईश्वरार्पणबुद्धि से कर्माचरण—ध्यानयोग के विषय में गीता का अभिप्राय—योगाभ्यास की पूर्वतयारी—योगाभ्यासी का आहार-विहार—गीता में ध्यान की प्रणाली और ध्यानयोग का महत्व—अन्य दर्शनों के बताए ज्ञानमार्ग और गीता के ज्ञानयोग में भेद—ज्ञानयोग सिद्ध करने योग्य व्यक्ति के लक्षण—भक्तियोग के विषय में गीता का अभिप्राय—भक्ति का स्वरूप—गीता के अनुसार भक्त का लक्षण—ज्ञान, ध्यान, भक्ति और कर्म के समन्वयद्वारा ब्रह्म की उपलब्धि—जगत् और जगदीश्वर के विषय में गीता का मत—गीता परिणामवाद की समर्थक है। [पृष्ठ १३९—१७६]

सप्तम अध्याय—हिन्दूधर्म का सैद्धान्तिक विवेचन।

ब्रह्म के लक्षण—जगत् कबसे है—जगत् को किसने पैदा किया—जगत् क्यों पैदा हुआ—जगत् उत्पत्ति का क्रम—सात्विक, राजसिक और तामसिक अहंकार से पैदा होनेवाले पदार्थ—ब्रह्माण्डनिरूपण—परमात्मा ने विषमता पैदा क्यों की—जीवात्मा का लक्षण—जीवात्मा के कोषों का विवेचन—जीवसृष्टि में अवस्थाभेद से कोषों की न्यूनाधिकता—तीन प्रकार के शरीर—शरीरों से सम्बद्ध आत्मा की भिन्न २ अवस्थाएँ—जीवात्मा की भिन्न २ योनियाँ—उद्भिज्ज से मनुष्ययोनितक के विकास का क्रम—मनुष्ययोनि में जीवविकास—जीवात्मा और सुख-दुःख—जीवात्मा को बद्ध करनेवाले गुणों के भेद—सत्व, रज और तम गुणों का जीवात्मापर असर—जीव को सुख-दुःखादि परिस्थिति प्राप्त होने का कारण—कर्म के भेद—संचित—प्रारब्ध—आगामी—क्रियमाण—आगामीकर्म नष्ट होने का उपाय—प्रारब्ध और क्रियमाण नष्ट होने का उपाय—मनुष्यशरीर छोडने के बाद में जीवात्मा की हालत—मनुष्ययोनि प्राप्त कर लेने के पश्चात् सृष्टिक्रमानुसार परिभ्रमण नहीं होता—पुण्य और पाप—तीन लोक में भ्रमण—लोकविवरण और शरीर के साथ सम्बन्ध—मनुष्ययोनि के बाद जीवोत्क्रांति के दो मार्ग—हिंदूधर्म का सब से पवित्र शब्द—शब्दब्रह्म का विवेचन—सृष्टिक्रिया के प्रारम्भ में कम्पन और ॐ की उत्पत्ति—ॐकार की सर्वव्यापकता। [पृष्ठ १७७—२०२]

प्रथम अध्याय।

हिन्दू धर्म की व्यापकता।

प्रश्न—आप किस धर्म को माननेवाले हैं?

उत्तर—मैं सनातन हिन्दू धर्मानुयायी हूँ। इसी को आर्यधर्म या वैदिक धर्म भी कहते हैं।

प्र०—संसार में कितने धर्म हैं?

उ०—संसार में यों तो अनेक धर्म हैं, परन्तु जिस धर्म के अनुयाइयों की संख्या बहुत ज्यादह है, ऐसे प्रधान चार धर्म हैं।

प्र०—वे चार धर्म कौनसे हैं?

उ०—हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म, और इस्लाम धर्म।

प्र०—हिन्दू धर्म का अन्य धर्मों से क्या सम्बन्ध है?

उ०—सब धर्मों में हिन्दू धर्म अत्यंत प्राचीन है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो सब धर्म प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से हिन्दू धर्म से ही पैदा हुए हैं। प्रत्येक धर्म उस समय के लोगों की मानसिक अवस्था के अनुसार हिन्दू धर्म के किसी विशेष अंश का आविष्कार करके स्थापित किया गया है।

प्र०—प्रत्येक धर्म के तत्वज्ञान का अन्तर्भाव क्या हिन्दू धर्म में हुआ है।

उ०—हाँ, हिन्दू धर्म विश्वव्यापी धर्म है। आत्मिक विकास के मार्ग को ग्रहण करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार उचित रूप से सहायता हिन्दू धर्म से मिल सकती है। जिस प्रकार कोई माता भिन्न २ अवस्था की सन्तानों को उनकी प्रकृति के अनुसार अनेक प्रकारके भोजन देकर उनके शरीर पुष्ट रखती है, उसी प्रकार हिन्दू धर्म प्रत्येक व्यक्ति का उसकी आत्मिक उन्नति के अनुसार उचित ज्ञान देकर उत्तरोत्तर उन्नति में सहायक होता है।

प्र०—अन्य धर्म भी क्या विश्वव्यापी नहीं हो सकते?

उ०—अन्य धर्मों में मनुष्य के ज्ञानविकास के लिये स्वतंत्रता नहीं है और हिन्दू धर्ममें मनुष्यको उसके ज्ञान-विकासके लिय पूरी स्वतंत्रता है।

प्र०—अन्य धर्मों में मनुष्य के विचार-स्वातंत्र्य और सद्-असद्-विवेक-बुद्धि में कहाँ बाधा पहुंचती है?

उ०—हिन्दू धर्म के अतिरिक्त अन्य सब धर्मों में उन २ धर्म संस्थापकोंके जीवनचरित्र का यदि कोई भाग सद्-असद्-विवेक-बुद्धि को न पटे, तब भी उसे जबरदस्ती आदर्श रूप मानना पडता है। इसी प्रकार अन्य २ धर्म-संस्थापकों के ग्रन्थ तत्वज्ञान, इतिहास और विज्ञानकी दृष्टि से कितने ही प्रतिकूल क्यों न हों तथापि उन्हें सच्चा मानने की और उसीके अनुसार हि आचरण करने की जबरदस्ती उनके अनुयायियों पर रहती है।

प्र०—अन्य धर्मों में क्या क्या दूषण है? बतला सकेंगे?

उ०— **"न बुद्धिभेदं जनयेत्। अज्ञानां कर्म-संगिनाम्॥"**

सत् मार्गसे चलने वाले मनुष्य का बुद्धि-भेद करना इस पुस्तक का उद्देश्य नही है। तथापि आजकल प्रकाशित होनेवाले सत्यान्वेषी तार्किक लोगों के ग्रंथों से उन बातों का खुलासा हो सकता है। हमारे कहने का साराश इतना ही है, कि प्रगल्भ विचार के बुद्धिमान मनुष्य को अन्य धर्मों से उतनी शान्ति नही मिल सकती जितनी कि हिंदु धर्म से मिल सकती है। यही कारण है, कि आजकल विद्वान और सत्यान्वेषी सज्जन हिन्दू धर्म का अध्ययन करने लगे हैं और उसमे उन्हें शान्ति भी प्राप्त हो रही है। जैसे २ मनुष्य जाति की उत्क्रान्ति होती रहेगा, वैसे २ ही हिंदू धर्म का आश्रय अन्य सब धर्मावलम्बियों का करना पडेग। और कुछ समय पश्चात् यही धर्म समस्त मनुष्य जाति की लौकिक और पारलोकिक उन्नति में सहायक होकर शान्ति और सुख को प्रदान करनेवाला विश्वव्यापी धर्म बन जायगा।

द्वितीय अध्याय।

हिन्दू धर्म का साहित्य और संप्रदाय।

प्रश्न—हिन्दू किसे कहना चाहिए ?

उत्तर— प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु, साधनानामनेकता।
उपास्यानामनियमश्चैतद्धर्मस्य लक्षणम् ॥
धर्ममेनं समालम्ब्य, विधिभिः संस्कृतस्तु यः
श्रुति-स्मृति-पुराणोक्तैः, क्रमपाक्षैरथापि वा ॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः, श्रद्धा-भक्ति-समन्वितः ।
शास्त्रोक्ताचारशीलश्च, स वै हिन्दुः सनातनः ॥

(लो० बाल गंगाधर तिलक)

वेदोंके तत्वज्ञान के द्वारा मनुष्य ईश्वरीय आनंद को प्राप्त कर सकता है, ऐसा जिस का विश्वास है; ईश्वरप्राप्ति के लिए कोई भी साधन अमलमें लाने के लिये और कोई भी उपास्यदेवता मानने के लिए जिसको पूरी स्वतंत्रता है, जिसके आचार विधि और संस्कार श्रुति, स्मृति और पुराणों के अनुकूल है, जो पुनर्जन्म और कर्म मानता है और जो परमात्मा को अनादि, अनंत, निर्गुण, निराकार और सच्चिदानंद-स्वरूप मानता है; जो गौ को पवित्र समझता है, और खास करके "ॐ" शब्द परब्रह्म का व्यक्त स्वरूप है, ऐसा जिसका विश्वास है, उसको हिंदू कहना चाहिए।

प्र०—वेद किसे कहते है ?

उ०— विदंति जानंति; विद्यंते भवंति;
विंदन्ति लभंते; विंदन्ते विचारयंति;
सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्य विद्या यैर्येषु
वा तथा विद्वांसश्च भवंति ते वेदाः ॥

(निरुक्त)

जिसकी समयतासे सब मनुष्य सत्य विद्या प्राप्त करते हैं, जिससे लोग विद्वान हो सकते हैं और जिसके कारण सब मनुष्य सत्य विद्या के विषयमें विचार करने के लिये समर्थ हो सकते हैं, उसे वेद कहते हैं।

" वेदो नाम वेद्यन्ते ज्ञाप्यन्ते धर्मार्थकाममोक्षा अनेनेति व्युत्पत्त्या चतुर्वर्गज्ञानसाधनभूतो ग्रन्थविशेषः । " (आर्य विद्या सुधाकर)

'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष'-चारों पुरुषार्थों का सम्यग्ज्ञान होने के लिये साधनीभूत ग्रंथ विशेष को वेद कहते हैं।

" इष्ट—प्राप्त्यनिष्ट—परिहारयोर लौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः । " (वेदार्थ प्रकाश)

जो ग्रन्थ इष्ट वस्तु की प्राप्ति और अनिष्ट वस्तु के त्याग करनेका अलौकिक उपाय सिखलाता है, उसको वेद कहते हैं।

" आत्मानमन्विच्छ । यस्तं वेद स वेदवित् ॥ "

जिसको अपनी आत्मा का पूर्ण ज्ञान होगया उसको ही वेद का वास्तविक ज्ञान होता है। अर्थात् आत्मज्ञानका ही पर्याय वेद है। [कामन्दकीयनीति]

प्रश्न—वेद कितने हैं ?

उत्तर—**" अनन्ता वै वेदाः "** [श्रुति]

वेद का अर्थ है ज्ञान और ज्ञान अनंत होनेके कारण वेद भी अनंत है। तथापि प्रधानतया वेद चार है--

" ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वणः । " [मुंडकोपनिषद्]

प्रश्न---श्रुति किसे कहते हैं ?

उत्तर—**" श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः "** [मनुस्मृति]

वेदों को ही श्रुति कहते हैं।

" आदिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः सत्यविद्याः श्रूयन्ते सा श्रुतिः "

सृष्टिके आरम्भसे आजतक जिसकी सहायतासे समस्त सत्य विद्या बडे २ ऋषि मुनियों को मालूम हुई उसे श्रुति कहते हैं।

'श्रु' माने सुनना और श्रुति के माने सुनाहुआ ज्ञान। अर्थात् महान् सत्पुरुषों नें समाधि कि उच्चतम अवस्था मे जो ज्ञान प्राप्त किया और जिसे जगत के कल्याण के लिये प्रगट किया उसे श्रुति कहते हैं।

प्रश्न—श्रुति या वेद किस के बनाये हुए हैं?

उत्तर—श्रुति या वेद अपौरुषेय हैं। अर्थात किसी व्यक्ति के बनाये हुए नहीं हैं, वे स्वयं सिद्ध हैं।

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसित मेतद् यदृग्वेदोयजुर्वेदःसामवेदोऽथर्वांगिरसः। [वृहदारण्यक उपनिषद्]

उस महान परमेश्वर के द्वारा [सृष्टि का प्रादुर्भाव होने के साथ ही] ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद श्वासकी तरह सहज ही बाहर प्रगट हुए।

अस्य धर्मस्य सर्वज्ञः, कल्पादौ परमेश्वरः।
व्यंजकः केवलं विप्रो, नैव कर्त्ता न संशयः॥ [मैत्रेय पुराण]

अनादि सिद्ध परमेश्वर ही सिर्फ धर्मका आदिकर्त्ता है। ऋषिगण केवल धर्म के (वेद के) प्रवर्त्तक हैं उसके कर्त्ता नहीं हैं,। गुरुत्वाकर्षण के नियमों का आविष्कर्त्ता न्यूटन जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण की शक्ति पैदा करनेवाला नहीं हो सकता, क्योंकि उसके पहलेसे ही जगत के आदि समय से यह शक्ति सृष्टि में विद्यमान है, उसी प्रकार ऋषिगण अनादि और अनंत ज्ञान के प्रकाशक मात्र हैं।

प्रश्न----श्रुति कितनी हैं?

उ०— "**श्रुतिश्च द्विविधा, वैदिकी तांत्रिकीच।**" श्रुति के वैदिक और तांत्रिक ऐसे दो विभाग हैं।

प्र०—मुख्य तंत्र कितने हैं?

उ०—महानिर्वाण—तंत्र, नारदपंचरात्र—तंत्र, कुलार्णव—तंत्र ऐसे तीन मुख्य तंत्र हैं।

प्र०—वेद के कितने विभाग हैं?

उ०—"**वेदो हि मंत्र ब्राह्मणभेदेन द्विविधः**" वेद के मंत्र और ब्राह्मण ऐसे दो विभाग हैं। मंत्र को संहिता भी कहते हैं। ब्राह्मणमें आरण्यक और उपनिषद् का भी समावेश रहता है।

प्र०—मुख्यतया ब्राह्मण ग्रंथ कौन कौन हैं ?

उ०—ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, तलवाकार ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण और ताण्ड्य ब्राह्मण ये पाँच मुख्य हैं।

प्र०—उपनिषद् कितने हैं ?

उ०—उपनिषद् १०८ हैं। परंतु मुख्य १२ हैं—ईशावास्योपनिषद्, केनोपनिषद्, कठोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, मुंडकोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद्, तैत्तीरीयोपनिषद्, ऐतरेयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, कौशीतक्युपनिषद्, मैत्रायणोपनिषद्, और श्वेताश्वेतरोपनिषद्।

प्र०—दर्शन कितने हैं ?

उ०—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा (वेदांत), जैनदर्शन, बुद्धदर्शन, और गीतादर्शन ये ९ मुख्य दर्शन हैं।

प्र०—दर्शनों का उद्देश्य क्या है ?

उ०—जिस अज्ञान के द्वारा मनुष्य का जीवन दुःखमय होता है, उस अज्ञान-अंधकार का नाश कर के ज्ञान के प्रकाश द्वारा मनुष्य का जीवन आनंदमय करना दर्शनोंका मूल उद्देश है।

प्र०—स्मृति किसे कहते हैं ?

उ०—महान् ऋषियों ने पिछले अनुभवोंको स्मरण कर के जगत् के लौकिक और पारलौकिक कल्याण के लिये लिखे हुए ग्रंथों को स्मृति कहते हैं। जिस में राजनैतिक, सामाजिक, कौटुंबिक, वैयक्तिक और सार्वजनिक उन्नति के सर्वांग-परिपूर्ण और अनुभवजन्य नियमों का समावेश रहता है। इसी प्रकार स्मृतियों में तात्कालिक समाज का इतिहास भी पाया जाता है।

प्र०—स्मृति कितनी हैं ?

उ०— मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽगिराः।
यमापस्तम्बसम्वर्ताः, कात्यायनबृहस्पती ॥
पराशर–व्यास–शंख–लिखिता दक्षगौतमौ।
शातातपो वसिष्ठश्च, धर्मशास्त्रप्रयोजकाः ॥

मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, औसनस, आंगिरस, यम, आपस्तंब सम्वर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शंख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप और वसिष्ठ ये २० स्मृति हैं। इनमें मनुस्मृति, पाराशरस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति मुख्य हैं।

प्रश्न—पुराण किसे कहते हैं?

उत्तर—**सर्गश्च प्रतिसर्गश्च, वंशो मन्वंतराणि च।**
वंशानुचरितं चैव, पुराणं पंचलक्षणम्॥

जिसमें जगत की उत्पत्ति और विनाश, मनुष्यवंश, मन्वतर और राजवंश का इतिहास प्रतिपादन किया गया हो उसको पुराण कहते हैं।

"**इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।**" वेदोंका तत्वज्ञान इतिहास के रूप में प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थों को पुराण कहते हैं।

प्रश्न—पुराण कितने हैं?

उत्तर—**अष्टादश पुराणानि, पुराणज्ञा प्रचक्षते।**
ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवञ्च, शैवं भागवतं तथा।
अथान्यं नारदीयञ्च, मार्कण्डेयञ्च सप्तमम्।
आग्नेयमष्टमञ्चैव, भविष्यं नवमं तथा॥
दशमं ब्रह्मवैवर्तं, लैंगमेकादशं स्मृतम्।
वाराहं द्वादशञ्चैव, स्कान्दञ्चात्र त्रयोदशम्॥
चतुर्दशं वामनञ्च, कौर्म्मं पञ्चदशं स्मृतम्।
मत्स्यञ्च गरुडञ्चैव, ब्रह्माण्डञ्च ततःपरम्॥

ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, भागवतपुराण, नारदपुराण, मार्कण्डेयपुराण, अग्निपुराण, भविष्यपुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, लिंगपुराण, वराहपुराण, स्कन्दपुराण, वामनपुराण, कूर्म्मपुराण, मत्स्यपुराण, गरुडपुराण, और ब्रह्माण्डपुराण, ये १८ पुराण हैं।

प्रश्न—उपवेद किसे कहते हैं?

उत्तर—"**आयुर्वेदो धनुर्वेदो गांधर्वश्चेति ते त्रयः। स्थापत्यवेदमपरमुपवेदश्चतुर्विधः॥**"

आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और स्थापत्यवेद ये चार उपवेद हैं।

प्रश्न—धर्म का यथार्थ ज्ञान होने के लिए किन२ विषयों का अध्ययन करना चाहिए।

उत्तर—**पुराणन्याय-मीमांसा धर्मशास्त्रांग-मिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।**
[याज्ञवल्क्य स्मृति]

धर्मका यथार्थ ज्ञान होने के लिए पुराण, न्याय, मीमांसा, स्मृति, दर्शन और इतिहासका अध्ययन करना चाहिए।

प्रश्न—वेद, स्मृति और पुराणों में विशेष महत्व किसका है?

उत्तर—**"या वेदबाह्या स्मृतयः याश्चकाश्च कुदृष्टयः। सर्वास्ता निष्फला ज्ञेयास्तमोनिष्ठा हिताः स्मृताः ॥"** [मनुस्मृति]

वेदोका तत्वज्ञान सुगम रीति से बतलाना यही स्मृति और पुराणों का उद्देश है। वेद के प्रतिकूल बातें यदि इनमें पाई जायँ तो प्रक्षिप्त जानकर उन्हें छोड देना चाहिए।

प्रश्न—हिंदु धर्म के तात्विक विचार की कितनी प्रणालियां हैं?

उत्तर—द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत इन तीन मुख्य प्रणालियों में हिन्दू धर्म के तात्विक विचारों का समावेश हो जाता है।

प्रश्न—क्या, हिन्दू धर्म के अनुसार वेदो में ही ईश्वरीय ज्ञान की पारिसमाप्ति हुई है?

उत्तर—**"द्वे विद्ये वेदितव्ये इति हस्म यद् ब्रह्मविदो वदंति परा चैवाऽपरा च तत्राऽपरा ऋग्वेदो युजर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः......... अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥"** [मुंडकोपनिषद्]

ज्ञानकी परिसमाप्ति वेद में नही हो सकती। क्योंकि ज्ञान अनुभवजन्य है। यही कारण हैं, कि वेद अपराविद्या कहे जाते हैं। वेद आदि परा विद्या [परमेश्वरीय अनुभव] तक पहुचाने की सीढियां हैं। ज्ञान की पारिसमाप्ति सिर्फ परमेश्वरीय अनुभव प्राप्त करने में ही हो सकती है।

प्रश्न—हिंदूधर्म में कितने सम्प्रदाय और पंथ हैं?

उत्तर—हिन्दुधर्म में बहुत से संप्रदाय और पंथ मौजूद हैं। उनमें निम्नलीखित संप्रदाय मुख्य हैं:—जैन सम्प्रदाय, बौद्धसंप्रदाय, सिख संप्रदाय, लिंगायत संप्रदाय इत्यादि। इसके अतिरिक्त बहुत से पंथ मौजूद हैं।

प्र०—हिन्दु धर्म में ऊपर लिखित संप्रदाय और पंथ क्यों निकले ?

उ०—जब २ हिन्दु-समाज धर्म्म के वास्तविक मार्ग से च्युत होकर विपरीत दिशा में भटकने लगा तब २ ऐसे महान् सत्पुरुषों का इस भारतवर्ष में आविर्भाव होता रहा, जिन्हों ने हिन्दू धर्म और समाज के विकृत और अवनत अंग को उस समय की जनता की योग्यता और परिस्थिति के अनुरूप सुधारने की दिशा और उपायों को अमल में लाया, उसी का फलरूप वर्तमान संप्रदाय और पंथ हैं।

प्र०—सिख संप्रदाय का अविर्भाव क्यों हुआ, और हिंन्दू धर्म्म की उस समय क्या हालत थी ?

उ०—उस समय सब हिन्दू समाज परतंत्रता में होने के कारण दुर्बल और अज्ञान बन रही थी। हिंदू धर्म्म अलग २ संप्रदाय और पंथ के कारण तथा जातियों की आपसी फूट के कारण अवनत स्थिति को प्राप्त हो रहा था। इस परिस्थिति का मुसलमानों ने फायदा उठाकर अज्ञ हिंदूओं को इस्लाम धर्म्म में सम्मिलित करना शुरू कर दिया था। ऐसे समय में गुरु नानक तथा अन्य सिख गुरुओं ने हिंदू धर्म और हिंदू समाज की अवनाति के कारणों को दूर करने के उद्देश से हिंदू धर्म के सब संप्रदाय और पंथों का सार लेकर सिख धर्म स्थापन करके हिंदू समाज में वीरवृत्ति फैलाई।

प्र०—जैन और बौद्ध धर्म का जब आविर्भाव हुआ तब हिन्दू धर्म की कैसी हालत थी ?

उ०—उस समय हिन्दु-समाज यज्ञयागादिक हिंसात्मक कर्म-मार्ग में ही लिप्त था और ज्ञान-मार्ग बिलकुल लुप्त हो चुका था और जनता का ऐसा ख़याल था कि वेदों का सिर्फ यज्ञयागादिक मार्ग में ही प्रवृत्त करना मुख्य उद्देश है।

"**आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।**" (पूर्व-मीमांसा)

कर्म ही वेद का प्रतिपाद्य होने से कर्म के सिवाय वेद का और अंश वृथा है।

प्र०—जैन और बौद्धों ने अपने उपदेशों में वेदों का प्रामाण्य क्यों नहीं रखा ?

उ०—वेदों में सिर्फ हिंसात्मक यज्ञयाग कर्म ही है, ऐसा उस समय की जनता का ख़याल होने के कारण उपरोक्त धर्म्म-प्रवर्तकों ने वेदों का उल्लेख न करके तत् समय "एष धम्म सनत्तनो" ऐसा कहकर अपरोक्ष रीति से वेदों के तत्वज्ञान अर्थात सनातन धर्म का ही प्रतिपादन किया था, और सनातन धर्म्म के मूल सिद्धांत पुनर्जन्म, कर्म और ॐ शब्द की पवित्रता उक्त धर्म्म-प्रवर्तकों ने कायम रखी थी।

तृतीय अध्याय।

वर्णाश्रमधर्म।

प्रश्न—हिन्दू धर्म्म के तत्वज्ञान के अनुसार धर्म्म किसे कहते है?

उत्तर- "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः॥" (वैशेषिक दर्शन)

"जगतः स्थितिकारणं साक्षात प्राणिनामभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः स धर्मः" (शंकराचार्य)

जिसके द्वारा इस लोक मे उन्नति हो और अन्त में मोक्ष का प्राप्ति हो उसे धर्म्म कहते हैं।

"धारणात श्रेय आदधाति इति धर्मः।" (श्रीआश्वलायन गृ. सूत्र)

जिसके अनुसार चलने से मनुष्य की उन्नति (श्रेय) होती है उसे धर्म्म कहते है।

"विहितकर्मजन्यो धर्मः।" (तर्कसंग्रह)

उचित कामों से जो उत्पन्न होता है, वह धर्म है।

"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।" (पूर्व-मीमांसा)

व्यक्ति और समाज की ऐहिक और पारलौकिक उन्नति के लिए महान् ऋषि-मुनियों की आज्ञा ही धर्म्म है।

"लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः।
उभयत्र सुखोदर्क इहैव च परत्र च॥" (महाभारत)

लोक और परलोक में प्राणिमात्र की उन्नति और सुख की प्राप्ति के लिये ही धर्म्म की योजना है।

"धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥" (वेदव्यास)

जिस शक्ति के द्वारा सम्पूर्ण सृष्टिक्रिया धृत अर्थात् रक्षित हो रही है, उसीका नाम धर्म्म है।

"योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः ।" (पातंजल योग-भाष्य)

धर्म्मीकी योग्यतायुक्त शक्ति ही धर्म्म है, अर्थात् जड या चेतन किसी भी पदार्थ में जिस शक्ति के न रहने से पदार्थ की सत्ता नहीं रहती उस शक्ति का नाम धर्म्म है ।

" धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा... धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्......"

[नारायणोपनिषद्]

धर्म्म समस्त संसार की स्थिति का मूल है। धर्म के द्वारा ही सकल संसार स्थित है।

" आचारलक्षणो धर्मः " [महाभारत १०४-६-७]

जिस आचारण से मन और हृदय का विकास होता है, उस आचारण को ही धर्म्म कहते है ।

" मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः " (महाभारत १६२-६१)

मनुष्य की स्वभाविक सात्विक प्रवृत्ति को ही धर्म कहते हैं ।

प्र० -- मनुष्य को किस आधार पर अपना आचरण नियमित करना चाहिए.

उ०- **" श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥
वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ "** (मनुस्मृति)

प्रत्येक व्यक्ति को अपना आचरण श्रुति, स्मृति, महापुरुषों के आचारण और उनके उपदेश के अनुसार तथा अपनी विवेकबुद्धि अर्थात आत्मसंतोष के अनुसार रखना चाहिए ।

**" धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ।
द्वितीयं धर्मशास्त्रन्तु तृतीयं लोकसंग्रहः ॥ "** (महाभारत)

मनुष्य को अपना आचरण, श्रुति, स्मृति और लोकसंग्रह के आधार पर रखना चाहिए ।

**" केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः ।
युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते ॥ "** (बृहस्पति)

"देशकालसमयभेदेन धर्मभेदः ।" (मनु)

* * * *

"अधिकारिभेदाद्धर्मभेदः ।" (मनु)

युक्तायुक्तविचार न कर के सिर्फ धर्मशास्त्र पर निर्भर होकर ही आचरण नहीं करना चाहिए। क्योंकि देश, काल, समय तथा अधिकारी की योग्यता के अनुसार धर्म्म में भी परिवर्तन होता रहता है।

प्र० - मनुष्य को अपना लौकिक बर्ताव कैसा रखना चाहिए?

उ०—"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्। कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। (ईशावास्योपनिषद्)

संसार में जो कुछ भी है, वह सब परमात्मा का है, इस त्याग बुद्धि से जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक सामग्री का ही उपभोग और संग्रह करना चाहिए। किसी के धन का अपहरण नहीं करना चाहिए। क्योंकि अपनी आवश्यकता से ज्यादह वस्तुओं का उपभोग या संग्रह करने से दूसरों के जीवन-निर्वाह में बाधा पहुँचती है और इससे ईश्वरीय नियमों में विघ्न उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार की त्याग-बुद्धि से मनुष्य सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे।

प्र०—समाज की उन्नति के लिये धर्म्म के कितने भेद हो सक्ते हैं?

उ०—सामान्य धर्म्म, विशेष धर्म्म और आपद्धर्म्म ऐसे तीन भेद हो सक्ते हैं।

प्र०—सामान्य धर्म्म किसे कहते है?

उ०—जिस तत्व के अनुसार बर्ताव करने से व्यक्ति और समाज, अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त होता है, उसे सामान्य धर्म्म कहना चाहिए। वह इस प्रकार है—

"अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥" [मनुस्मृति]

अहिंसा, सत्य, अस्तेय [अचौर्य], शौच [अंतरंग और बहिरंग शुद्धि], और इंद्रियनिग्रह ये पांच सामान्य धर्म्म के लक्षण हैं।

"सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्रीः शौचं धीर्धृतिर्दमः।
संयतेन्द्रियता विद्या धर्मः सर्व उदाहृतः॥" [याज्ञवल्क्य स्मृति]

सत्य, अस्तेय, अक्रोध, ह्री [मर्यादा], शौच [शुद्धि], धी [सद्बुद्धि], धैर्य, दम और विद्या ये सामान्य धर्म्म के लक्षण है ।

" अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता ।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥" [मनुस्मृति]

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अकाम (निःस्वार्थता), अक्रोध, अलोभ और सब प्राणिमात्र से प्रेम और हितैषिता का बर्ताव करना सामान्य धर्म के लक्षण हैं ।

प्र० —विशेष धर्म्म किसे कहते है ?

उ० —जो व्यक्ति और समाज के लिये विशेष रूपसे सामान्य धर्म्म की पूर्ति के लिए आचरणीय हो उसे विशेष धर्म्म कहते है ।

प्र० —व्यक्ति की उन्नतिके लिये विशेष धर्म्म कितने भागो मे विभक्त है ?

उ० —व्यक्तिगत विशेष धर्म चार आश्रमो मे विभक्त है—

" चत्वार आश्रमाः । ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थपरिव्राजकाः ।"

" ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्,
गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ॥ " (शत. का. १४)

मनुष्य की सर्वांगपरिपूर्ण उन्नति के लिये पहले ब्रह्मचर्य कुछ समय तक पालने की आवश्यकता है । बाद मे गृहस्थाश्रम स्वीकार करके वानप्रस्थ और अंत में संन्यास आश्रम धारण करना चाहिये ।

प्र० —क्या ब्रह्मचर्य के बाद भी संन्यास आश्रम मे प्रवेश कर सक्ते हैं ?

उ० —" यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजत् "

जिस के हृदय में वैराग्य की मात्रा और ज्ञान की पिपासा विशेष रूप से जागृत हो रही हो वह व्यक्ति कभी भी सन्यास आश्रम का अवलम्बन कर सक्ता है । तथापि सर्व साधारण के लिए क्रमानुसार आश्रम मे प्रवेश करना ही लाभप्रद है ।

प्र० क्या, संन्यास आश्रम मे प्रवेश करने के पहले अपने आश्रित स्वजनों की आज्ञा लिये बिना ही प्रवेश करना उचित है ?

उ०—" मातरं पितरं वृध्दं भार्यांञ्चैव पतिव्रताम् ।
शिशूंश्च तनयान् हित्वा नावधूताश्रमं व्रजेत् ॥ "

(महानिर्वाण तंत्र ७-१७)

" मातॄन् पितॄन् शिशून्दारान् स्वजनान् बान्धवानपि ।
यः प्रव्रजेद्धित्वैतान् स महापातकी भवेत् ॥ "

[महानिर्वाण तंत्र ८-१८]

वृद्ध माता, पिता, सुशीला धर्मपत्नी और छोटी अवस्था के बच्चों का त्याग करके संन्यास धारण करना अनुचित है और जो व्यक्ति अपने माता, पिता, पत्नी, पुत्र और अन्य निजाश्रित कुटुम्बियों को दीन हीन अवस्था में छोड कर संन्यास ग्रहण करता है वह महापातकी है ।

प्र०—ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं ?

उ०—" ब्रह्मणे वेदविद्यायै कस्यै विद्यायै वा चर्यते इति ब्रह्मचर्यम् ।"

* * * * * *

"ब्रह्म वेदविद्या, तदध्ययनार्थं यद् व्रतं तद् व्रतं यश्चरतीति ब्रह्मचारी ॥"

वेद या और भी कोई विद्या पढने के लिये जो नियम पाला जाता है उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं । और इस नियम को पालन करनेवाला ब्रह्मचारी कहलाता है ।

प्र०—ब्रह्मचर्य से क्या २ लाभ होते हैं ?

उ०—" आहारशयनब्रम्हचर्यैर्युक्तिप्रयोजितैः शरीरं धार्यते
नित्यमागारमिव धारणैः । " (अष्टांगहृ० सू० ७-५१)

जिस प्रकार खम्भों के सहारे पर घर खडा रहता है, उसी प्रकार शरीर की स्वस्थ हालत दीर्घ काल तक टिकाऊ रखने के लिये शुद्ध और हितकारी आहार, परिमित निद्रा और कडे तौर पर ब्रह्मचर्य पालन करने की परम आवश्यकता है । अर्थात् ब्रह्मचर्य सब आयुष्य और पुरुषार्थ का पाया है ।

" ब्रम्हचर्यमायुष्यकारणम् । " [चर० सू० २५]

ब्रह्मचर्य से ही आयुष्य की वृद्धि होती है ।

" वीततन्द्राः क्लमाश्वासनिरातंकाः समाहिताः मेधास्मृतिबलोपेता—
श्चिररात्रं तपोधनाः । " [चरक संहिता]

ब्रह्मचर्य के द्वारा बेहोषी, थकावट, कमजोरी, रोगी हालत, नष्ट होकर बुद्धि, स्मरणशक्ति और बल बढ़ता है तथा चित्त एकाग्र रहता है।

"अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रम्हचर्यमेव तद् ब्रम्हचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रम्हचर्य्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते ॥१॥ अथ यत्सत्रायणमित्याचक्षते ब्रम्हचर्यमेव तद् ब्रम्हचर्येण ह्येवसत आत्मनस्त्राणं विन्दते। अथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रम्हचर्यमेव तद् ब्रम्हचर्येण ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते ॥२॥" [छान्दा० १-८।५]

ब्रह्मचर्य ही बडा यज्ञ और इष्टरूप है। जिसके द्वारा सर्वज्ञाता परमात्मा की प्राप्ति होती है। जो कुछ भी इष्ट है वह केवल ब्रह्मचर्य है। क्योंकि इसके द्वारा विद्या प्राप्त हो कर आत्मा की उपलब्धि होती है। ब्रह्मचर्य के द्वारा ही आत्मा का रक्षण होता है। जिसे मौन कहते है, वह ब्रह्मचर्य का ही बोधक है। कारण, ब्रह्मचर्य के द्वारा आत्मा का ज्ञान हो कर मनन किया जा सकता है।

"ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।" (योगदर्शन २।३८)

"ब्रह्मचारी न कांचन मार्तिमृच्छति ॥" (शत० ब्रा० ११।३।६।२)

ब्रह्मचर्य से वीर्य (शक्ति) की वृद्धि होती है और ब्रह्मचारी को कोई भी मानसिक कष्ट नही होते।

"आयुस्तेजो बलं वीर्यं प्रज्ञा श्रीश्च महद्यशः।
पुण्यं च मत्प्रियत्वं च हन्यतेऽब्रह्मचर्यया ॥" [गो० सू० अ० ४]

ब्रह्मचर्य का पालन न होने से शरीर वीर्यहीन और क्षीण हो कर आयु, तेज, बल, वीर्य, बुद्धि, सोंदर्य, धन, यश, पुण्य और प्रीति इत्यादि नष्ट होते है।

"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।
सम्यग्-ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ॥"

सत्य, तपस्या, ज्ञान और ब्रह्मचर्य के द्वारा आत्मा की उपलब्धि होती है। ब्रह्मचर्य ज्ञानरूप प्रदीप के लिये स्नेहरूप है, ससार-समुद्र मे दिग्भ्रान्त जीवों के लिये ध्रुवतारारूप है और जगद्यन्त्र की जीवनी शक्ति है।

प्र०—ब्रह्मचारी के लिये किन नियमों का पालन करना आवश्यक है ?

उ०—" सेवेतेमांस्तु नियमान् ब्रम्हचारी गुरौ वसन् ।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः ॥
वर्जयेन्मधु मांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनाञ्चैव हिंसनम् ॥
अभ्यंगमञ्जनञ्चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधञ्च लोभञ्च नर्तनं गीतवादनम् ॥
द्यूतञ्च जनवादञ्च परीवादं तथाऽनृतम् ।
स्त्रीणाञ्च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥
स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ।
स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥ " [मनुसंहिता]

ब्रह्मचारी गुरु-आश्रम में वास करने के समय या ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेते समय इन्द्रिय संयम करके तपोबल बढाने के लिये नीचे लिखे नियमों का पालन करे।

मधु, मॉस, गन्ध, द्रव्य, माल्य और रस आदि का सेवन और स्त्रीसम्बन्ध त्याग करना चाहिए। जो वस्तु स्वभावतः मधुर है परन्तु किसी कारण से अम्ल हो गयी है इस प्रकार की वस्तु ब्रह्मचारी कदापि सेवन न करे और न किसी जीव की हिंसा करे। तैलमर्दन, आँखों में अंजन, पादुका और छत्रधारण, काम, क्रोध, लोभ, नृत्य, गीत, वाद्य, अक्षक्रीडा, मनुष्यों के साथ विवाद या दोषान्वेषण, मिथ्या वचन, स्त्रियों के प्रति कटाक्ष या आलिंगन, दूसरों का अपकार ये सभी बातें ब्रह्मचारी के लिये त्याज्य हैं। ब्रह्मचारी एकान्त में अकेला सोवे, कभी रेतःपात [वीर्यपतन] न करे। इच्छा से वीर्यपात करने पर ब्रह्मचारी का व्रत भंग हो जाता है। यदि इच्छा न होने पर भी स्वप्न में शुक्रनाश हो जाय तो स्नान के बाद सूर्यदेव की पूजा करके तीन बार "**पुनर्मामेत्विन्द्रियम्**" अर्थात् मेरा वीर्य मेरे में पुनः लौट आवे, यह वेदमन्त्र पढना चाहिए।

" ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेदष्टधा मैथुनं पृथक् ।
स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ॥
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ।
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ " (दक्षसंहिता)

स्मरण, कीर्तन, केलि, दर्शन, गुप्त वार्तालाप, संकल्प, चेष्टा और क्रियासमाप्ति ये मैथुन के आठ अंग हैं, इनके विपरीत ब्रह्मचर्य है, जिस का सदा पालन करना चाहिए । अर्थात् ब्रह्मचारी को अष्टांगमैथुन का सम्पूर्ण त्याग करना चाहिए ।

" लिंगसंयोगहीनं यच्छब्दस्पर्शविवर्जितम् ।
श्रोत्रेण श्रवणं चैव चक्षुषा चैव दर्शनम् ॥
वाक्संभाषाप्रवृत्तं यत् तन्मनःपरिवर्जितम् ।
बुद्ध्या चाध्यवसीयीत ब्रह्मचर्यमकल्मषम् ॥ "
" आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च ।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च ।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ॥
सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतो विद्यार्थिनः सुखम् ।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम् ॥ "
[महाभारत उद्योगपर्व]

लिंगसंयोग न करना, गुह्येन्द्रिय को हाथों से स्पर्श न करना, कामविषयक चर्चा न सुनना, स्त्रियों की ओर कामदृष्टि से न देखना, अश्लील शब्दों का उच्चारण न करना, मन से स्त्रीविषयक चिंतन न करना और मन लगा कर पढना, ऐसे आचरण को ब्रह्मचर्य कहते हैं ।

आलस्य, अभिमान, कामविषयक उन्मत्तता, स्त्रियों के साथ आमोदप्रमोद, चंचलता, उदासीनता इत्यादि दोष विद्यार्थियों को त्यागने योग्य हैं । सुख की इच्छा करने वाले को विद्या प्राप्त नहीं हो सकती, और विद्या प्राप्त करने वाले को सुख नहीं हो सकता, अर्थात् बिना कष्ट और प्रयत्न से विद्या सिद्ध नहीं होती; इसलिये छात्रावस्था में भोगोपभोग और इन्द्रिय के विषयों को पुष्ट करनेवाले कार्यों से बच कर ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए ।

प्र० —ब्रह्मचारी जीविका के लिए भिक्षा किससे ग्रहण करे ?

उ०—"वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥" [मनुस्मृति]

वेदाध्ययन और यज्ञकर्म से जो पराङ्मुख नहीं हैं और जो अपने धर्म के अनुसार चलनेवाले हैं उनके घर में भिक्षा माँगनी चाहिए ।

"सर्वं वापि चरद् ग्रामं पूर्वोक्ता नाम संभवे ।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥" [मनस्मृति]

भिक्षा माँगने के अतिरिक्त और किसी प्रकार का भाषण न करे और उपजीविका के लिए सब गाँव भर में भी घूमना पडे तो भी पातकी और दुष्टों के घर से भिक्षा न लेवे ।

"गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥"

गुरु के और अपने जातिसम्बन्धियों के घर में भिक्षा नहीं माँगनी चाहिए ।

प्र०—ब्रह्मचर्य का पालन मनुष्य के लिए कितनी अवस्थातक परमावश्यक है ?

उ०—"षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव, वा ॥
वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाऽऽश्रममावसेत् ॥" (मनुसांहिता)

प्रत्येक व्यक्ति को गुरुकुल में अध्ययन के साथ यथामाति ९, १८ या ३६ वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालना चाहिए । बाद में गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे ।

प्र०—गृहस्थाश्रम में अपना आयुष्य किस प्रकार व्यतीत करना चाहिए ?

उ०—"ब्रह्मनिष्ठो गृहस्थः स्यात् ब्रह्मज्ञानपरायणः ।
यद्यत् कर्म प्रकुर्वीत तद् ब्रह्मणि समर्पयेत् ॥" [महानि. तन्त्र]

गृहस्थाश्रमी को ब्रह्मनिष्ठ होकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की कोशिश करते रहना चाहिए और वह जो कुछ भी कर्म करे, उसे अहंबुद्धि छोड कर परमात्मा को समर्पण करता रहे ।

" न मिथ्याभाषणं कुर्यात् न च शाठ्यं समाचरेत् ।
देवताऽतिथिपूजासु गृहस्थो निरतो भवेत् ॥ " [महानि. तंत्र]

असत्य वचन और मायाचारी के वर्तावका त्याग करना चाहिए और हमेशा देवता, माता, पिता, और अतिथियों की सेवा में प्रवृत्त रहना चाहिए ।

" मातरं पितरंचैव साक्षात्प्रत्यक्षदेवताम् ।
मत्वा गृही निषेवेत सदा सर्वप्रयत्नतः ॥ " [महानि. तंत्र]

मातापिता साक्षात् परमात्मा के दृश्यरूप हैं ऐसा मान कर उनकी सदैव सेवा करते रहना चाहिए ।

" गृहस्थो गोपयेद्दारान् विद्यामभ्यासयेत् सुतान्
पोषयेत् स्वजनान् बन्धूनेष धर्मः सनातनः ॥ " (नारदपंच तंत्र)

अपनी पत्नी का पालन करना, संतान को विद्या पढाने का प्रबन्ध करना और अपने सम्बन्धियों का पालन करना यह गृहस्थाश्रमियों का धर्म है ।

" जनन्या वर्धितो देहो जनकेन प्रयोजितः ।
स्वजनैः शिक्षितः प्रीत्या सोऽधमस्तान्परित्यजेत् ॥" (कुलार्णव तंत्र)

माताने जिस के शरीर का पोषण किया है, पिता ने पालन किया है और स्वजनवर्गों ने प्रेम-पूर्वक शिक्षा दी हैं, ऐसे का त्याग करनेवाला महा अधर्मी है ।

" ततः स्वधर्मनिरतानेकग्रामनिवासिनः ।
अभ्यागतानुदासीनान् गृहस्थः परिपालयेत् ॥ " (कुलार्णव तंत्र)

गृहस्थाश्रमी को अपने सहधर्मी, स्वग्रामनिवासी, अभ्यागत और यतिमुनियों का पालन करना चाहिए ।

" निद्रालस्यै देहयत्नं केशविन्यासमेव च ।
आसक्तिमशने वस्त्रे नातिरिक्तं समाचरेत् ॥ " [महानि. तंत्र]

गृहस्थ को निद्रा, आलस्य, शारीरिक आसक्ति और खान पान, पोषाक आदि में शौकीनी नहीं रखनी चाहिए ।

" युक्ताहारो युक्तनिद्रो मितवाङ्मितमैथुनः ।
स्वच्छो नम्रः शुचिर्दक्षो युक्तः स्यात् सर्वकर्मसु ॥" (महानि. तंत्र)

गृहस्थ को आहार, निद्रा, भाषण, और मैथुन में परिमितता रखनी चाहिए और उसको नम्र, पवित्र, शुद्ध रहना चाहिए, तथा प्रत्येक कार्य युक्तिपूर्वक करना चाहिए।

" शूरः शत्रौ विनीतः स्यात् बान्धवे गुरुसन्निधौ ।
जुगुप्सितान् न मन्येत नावमन्येत मानिनः ॥ " (महानि. तंत्र)

गृहस्थ को शत्रु के सम्मुख शूर, बन्धुजन और गुरु के सम्मुख विनयी होना चाहिए। दुष्टों के प्रति आदर भाव नहीं दिखलाना चाहिए और सज्जनों का आदर करना चाहिए।

" स्वीयं यशः पौरुषञ्च गुप्तये कथितञ्च यत् ।
कृतं यदुपकाराय धर्मज्ञो न प्रकाशयेत् ॥ " [महानि. तंत्र]

गृहस्थ को अपना यश, पुरुषार्थ, गुप्त बात तथा दूसरों पर किये हुए उपकार की बातें न कहनी चाहिए।

" विद्याधनयशोधर्मान् यतमान् उपार्जयेत् ।
व्यसनञ्चासतां संगं मिथ्याद्रोहं परित्यजेत् ॥ " [महानि. तंत्र]

गृहस्थ फजूल के झगडे फिसाद और दुष्टों की संगति न करे तथा धन, विद्या, कीर्ति और ज्ञान का उपार्जन बडे प्रयत्नपूर्वक करे।

" सत्यं मृदु प्रियं धीरो वाक्यं हितकरं वदेत् ।
आत्मोत्कर्षं तथा निन्दां परेषां परिवर्जयेत ॥ " (महानि. तंत्र)

गृहस्थ को दूसरों के साथ सत्य, मृदु, प्रिय और धैर्यप्रदायक हितकारी भाषण करना चाहिए और भाषण में अपना बडप्पन तथा दूसरे की निन्दा न करनी चाहिये।

प्र०—पुत्र को मातापिता के साथ किस प्रकार का व्यवहार रखना चाहिए ?

उ०— **" आसनं शयनं वस्त्रं पानम्भोजनमेव च ।**
तत्तत्समयमाज्ञाय मात्रे पित्रे नियोजयेत् ॥ " [महानि. तंत्र]

पुत्र को अपने मातापिता के आसन, वस्त्र, भोजन, पानादि सब बातों का प्रबन्ध उनकी इच्छानुसार समय पर करते रहना चाहिए।

" श्रावयेन् मृदुलां वाणीं सर्वदा प्रियमाचरेत् ।
पित्रोराज्ञानुसारी स्यात् सत्पुत्रः कुलपावनः ॥ " (महानि. तंत्र)

ऐसा ही पुत्र कुलदीपक है, जो अपने मातापिता से सदैव प्रिय वचन बोलता है, अपने माता पिता की रुची के अनुकूल व्यवहार करता है और उनकी आज्ञा-पालन में सदैव तत्पर रहता है।

" **औद्धत्यं परिहासञ्च तर्जनं प्रतिभाषणम्।**
पित्रोरग्रे न कुर्वीत यदीच्छेदात्मनो हितम्॥" [कुलार्णव तंत्र]

पुत्र यदि अपना हित चाहता हो तो मातापिता के सामने क्रोध न करे और न हँसी दिल्लगी करे और न किसी की निन्दा करे।

" **मातरं पितरं वीक्ष्य नत्वोत्तिष्ठेत् ससम्भ्रमः।**
विनाज्ञया नोपविशेत् संस्थितः पितृशासने॥" [कुलार्णव तंत्र]

जब २ मातापिता के दर्शन हों तब २ बडे आदर के साथ झुक कर [illegible] रहना चाहिए। उनकी आज्ञा बिना न बैठना चाहिए। उनकी आज्ञापालन में पुत्र को हरदम उत्साहित रहना चाहिए।

" **मातरं पितरं पुत्रं दारानतिथिसोदरान्।**
हित्वा गृही न भुञ्जीयात् प्राणैः कण्ठगतैरपि॥" [याज्ञवल्क्य स्मृति]

गृहस्थ को अपने माता, पिता, पत्नी, पुत्र और अतिथि इनको भोजन दिये बिना किसी हालत में भी स्वयं भोजन न करना चाहिए।

" **वञ्चयित्वा गुरुन् बन्धून् यो भुङ्क्ते सोदरम्भरः।**
इहैव लोके गर्ह्योऽसौ परत्र नारकी भवेत्॥" [याज्ञवल्क्य स्मृति]

जो अपने मातापिता और अपने से बडों को भोजन दिये बिना स्वयं भोजन करता है वह इस लोक में तुच्छता को प्राप्त होकर नरक में गमन करता है।

प्र०—गृहस्थाश्रमी को अपनी पत्नी के साथ कैसा व्यवहार रखना चाहिए?

उ०—" **न भार्यान्ताडयेत् क्वापि मातृवत् पालयेत् सदा।**
न त्यजेद् घोरकष्टेऽपि यदि साध्वी पतिव्रता॥" (महानि. तंत्र)

गृहस्थ अपनी पत्नी को कभी न मारे और उसका मातृवत् आदर के साथ पालन करे और कैसा भी कष्ट और आपत्ति उठानी पडे तब भी पत्नी का त्याग न करे।

" स्थितेषु स्वीयदारेषु स्त्रियमन्यां न संस्पृशेत् ।
दुष्टेन चेतसा विद्वानन्यथा नारकी भवेत् ॥"

गृहस्थों के लिये अपनी धर्मपत्नी के अतिरिक्त पराई स्त्रियों के विषय में भोग-लालसा क्षण भर के लिए भी मन में लाना महापातक है ।

"विरले शयनं वासं त्यजेत् प्राज्ञः परस्त्रिया ।
अयुक्तभाषणञ्चैव स्त्रियं शौर्यं न दर्शयेत् ॥"

गृहस्थ को एकान्त में किसी परस्त्री के साथ रहना या वार्तालाप करना अनुचित है । अपनी स्त्री के साथ में क्रूर व्यवहार और गाली गलौज इत्यादि न करना चाहिये.

"धनेन वाससा प्रेम्णा श्रद्धयामृतभाषणैः ।
सततं तोषयेत् दारान् नाप्रियं क्वचिदाचरेत् ॥"

गृहस्थ अपनी पत्नी को द्रव्य, वस्त्र, मृदु भाषण, प्रेम और आदरसत्कार इत्यादि से संतुष्ट रखे.

"यस्मिन्नरे महेशानि तुष्टा भार्या पतिव्रता ।
सर्वो धर्मः कृतस्तेन भवति प्रिय एव सः ।" [महानि. तंत्र]

जिस मनुष्य पर उसकी पत्नी का अगाध प्रेम है, वह पुरुष सच्चा धार्मिक है और उसी पर परमात्मा की कृपा रहती है ।

"यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ॥" [मनुस्मृति]

जिस घर में नारी का आदरसत्कार होता है, वहाँ देवता निवास करते हैं । और जहाँ नारीजाति की अवहेलना होती है, वहाँ की सब धर्मक्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं ।

" शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥ " [मनुस्मृति]

जहाँ नारी शोकमग्न रहतीं हैं वह कुल नष्ट हो जाता है । जहाँ नारी सुख में रहती हैं उस कुल का अभ्युदय होता है ।

" संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ " [मनुस्मृति]

जिस घर में पतिपत्नी परस्पर संतुष्ट हैं उस कुल का सदैव कल्याण होता रहता है।

" दुर्वृत्ताऽशिक्षितापि स्यात् सौन्दर्येण विवर्जिता।
नृणामार्यस्वभावानां पत्नी परमदेवता॥ "

पत्नी दुष्टस्वभाववाली, अशिक्षित, और रूपहीन क्यो न हो तब भी आर्य-स्वभाव के मनुष्य के लिए वह देवतास्वरूप है।

प्र० —गृहस्थाश्रमी को अपनी संतान के साथ किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए?

उ०—**" चतुर्वर्षावधि सुतान् लालयेत् पालयेत् पिता।**
ततः षोडशपर्यन्तं गुणान् विद्याञ्च शिक्षयेत्॥
विंशत्यब्दाधिकान् पुत्रान् प्रेरयेद् गृहकर्मसु।
ततस्तांस्तुल्यभावेन मत्वा स्नेहं प्रदर्शयेत्॥ "

गृहस्थ अपने पुत्रका ४ वर्ष की अवस्था तक लालन पालन करे। बाद में १६ या २० वर्ष की अवस्था तक विद्या पढावे। २० वर्ष के उपरान्त गृहकर्म में लगावे और उसके साथ मित्रवत् व्यवहार करे।

प्र० —गृहस्थाश्रम क्या सब आश्रमों में श्रेष्ठ है?

उ०—**" यथा वायुं समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।**
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते इतराश्रमाः। "

जिस प्रकार वायु के आश्रय से सब जीवजन्तु जीवित रहते हैं, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम पर अन्य सब आश्रम अवलम्बित हैं।

" यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥ "

जिस प्रकार सब नदी और नदों को समुद्र में मिलना होता है, उसी प्रकार सब आश्रम गृहस्थाश्रम में मिलते हैं।

" यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
एवं गृहस्थमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति भिक्षुकाः॥ "

जिस प्रकर माता के आश्रय से सब जीवजन्तु जीवित रहते हैं, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम पर हि सब आश्रम वासिओं का जीवन निर्वाह होता है ।

" सर्वेषामपि चैतेषां वेदश्रुतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि ॥ "

सब आश्रमों में गृहस्थाश्रम ही सर्वश्रेष्ठ है, ऐसा वेद और श्रुतियों का विधान है।

" यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ " (मनुस्मृति)

ब्रह्मचारी वनप्रस्थ और संन्यास ये तीनों आश्रम गृहस्थद्वारा विद्या और अन्न दान से प्रतिपालित होते हैं, इसलिए गृहस्थाश्रम सब आश्रमों से श्रेष्ठ है ।

प्र०—गृहस्थका दैनिक कर्तव्य क्या है ?

उ०—**" अध्ययनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञश्च तर्पणम् ।**
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥
पञ्चैतान् यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥

गृहस्थ को यथाशक्ति खुद पढना, दूसरे को पढाना, ब्रह्मयज्ञ; तर्पण; पितृयज्ञ; होम, देवयज्ञ; पशुपक्षी आदि को अन्न देना, भूतयज्ञ; अतिथिसेवा, नृयज्ञ; ये महा यज्ञ रोज करने चाहिए ।

" सन्ध्या स्नानं जपो होमः स्वाध्यायो देवताऽर्चनम् ।
वैश्वदेवाऽऽतिथेयञ्च षट् कर्माणि दिने दिने ॥
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खः पण्डित एव वा ।
वैश्वदेवे तु सम्प्राप्तः सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥
अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्ते यथाविधि ।
भुञ्जानो न स जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ।
अदद्दकोमात्रं तु भुक्त्वा भुङ्क्ते तु किल्बिषम् । "

[पाराशर स्मृति]

गृहस्थाश्रमी को स्नान, संध्या, जप, होम, स्वाध्याय, देवतार्चन, वैश्वदेव [भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, और नृयज्ञ] करना चाहिए । अपना मित्र हो या द्वेषी हो, मूर्ख हो या पण्डित हो, कोई भी अतिथि घर आने पर उसे भोजन अवश्य देना चाहिए । गृहस्थ का अन्न भोग के लिए नहीं किन्तु यज्ञ के लिए है ।

यज्ञशिष्टाऽशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥" [गीता]

नृयज्ञ, भूतयज्ञ, आदि में अन्न देने के पश्चात् जो अन्न शेष रहता है उसे खाने से गृहस्थ पापमुक्त हो जाता है । और जो अपने लिये हि अन्न पकाता है वह महापातकी है ।

प्र०—गृहस्थ को किस प्रकार अपना आश्रम चलाना चाहिए ?

उ०—**अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।**
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥
यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम् ॥ (मनुस्मृति)

जिस से जीवों का कुछ भी अनिष्ट न हो या अभावपक्ष में उनको सामान्य ही कष्ट हो, इस प्रकार की वृत्ति आपत्काल-भिन्न और सब समय में आश्रय करके गृहस्थ अपना जीवन निर्वाह करे । केवल संसार-यात्रा-निर्व्वाहके लिए ही, शरीर को कष्ट न दे कर, अनिन्दित कर्म्मों से धन सञ्चय करना चाहिए ।

संतोषं परमास्थाय सुखाऽर्थी संयतो भवेत् ।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥
इन्द्रियाऽर्थेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत कामतः ।
अतिप्रसक्तिञ्चैतेषां मनसा सन्निवर्तयेत् ॥ [मनुस्मृति]

सुखार्थी मनुष्य सन्तोष का आश्रय कर के ही संयत रहे, क्यों कि संतोष ही सुख का मूल और असन्तोष दुःख का कारण है। इच्छा से किसी इन्द्रिय के विषय में आसक्त नहीं होना चाहिए । मनोबल से इन्द्रियों की आसक्ति दूर करनी चाहिए ।

प्र०—गृहस्थाश्रमी को जीवन निर्वाह की सामग्री की कोई परिमिती होनी चाहिए या नहीं ?

उ०—**"गृहस्थवर्गस्त्वपरिग्रहत्वमध्यासितुं न प्रभविष्णुरस्ति।**
अतः स कुर्वीत परिग्रहस्य प्रमाणमाशाप्रसरावरोधि ॥"
"...तस्मादवश्यं नियतप्रमाणं परिग्रहं संविदधीत गेही । "

गृहस्थाश्रमी को जीवन निर्वाह की सामग्री परिमित ही रखनी चाहिए और वह इतने परिमाण में कि जिस से गृहस्थाश्रमी अपने परिवार की जीविका चलाने का कर्तव्य पूरा कर सके। यदि गृहस्थाश्रमी ऐसा कोई परिमाण निश्चित न करे तो उसकी लालसा दिन पर दिन बढती जाती है और उसकी तृप्ति के लिये अधिक संचय करने से समाज को हानि पहूँचती है।

प्र०—गृहस्थाश्रम की पूर्ति कब हो सकती है ?

उ०—गृहस्थाश्रम तभी पूर्ण हो सकता है, जब कि गृहस्थ अपने ऋण को पूरा करे।

"ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः॥
अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥" [मनुस्मृति]

"जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋण वा जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः।" [तैतरीय संहिता]

ऋषिऋण स्वाध्याय द्वारा, पितृऋण पुत्रोत्पत्ति द्वारा और देवऋण यज्ञ द्वारा; इस प्रकार इन तीन ऋणों को पूरा करना चाहिए। तीन ऋण पूर्ण होने पर गृहस्थ वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करे।

प्र०—गृहस्थ को ब्रह्मचर्य का फल किस प्रकार मिल सकता है ?

उ०—ऋतावृतौ स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः।
ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम्॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति)

रजस्वला पत्नी के शुचिभूत (शुद्र) होने के बाद अयोग्य तिथि छोड कर पितृ-ऋण से मुक्त होने के लिए ही सम्भोग करने से गृहस्थ को ब्रह्मचर्य का फल मिल सकता है।

"धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भारतर्षभ।" (गीता)

भगवान् कृष्ण कहते हैं कि केवल प्रजोत्पत्ति के लिए अर्थात् पितृऋण से मुक्त होने के लिए जो काम–भोग है, वह मैं हूँ।

प्र० —वानप्रस्थाश्रम कब स्वीकार करना चाहिए ?

उ० —एवं गृहस्थाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः।
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चाऽपत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत् ॥
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वञ्चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥

इस प्रकार से स्नातक द्विज गृहस्थ धर्म को पालन करके यथाविधि जितेन्द्रिय हो कर वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करे। गृहस्थ जब देखे कि वृद्धावस्था के लक्षण प्रकट हो रहे हैं और अपने पुत्र का भी पुत्र हो गया है, उसी समय वानप्रस्थी हो जाय। गृहस्थावस्था के आहार और परिच्छद (पोशाक) त्याग करके और स्त्री को पुत्र के आधीन कर या साथ लेकर वन में जावे।

प्र० — वानप्रस्थाश्रम किस प्रकार व्यतीत करना चाहिए ?

"स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूताऽनुकम्पकः ॥
जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च।
अप्रयत्नः सुखाऽर्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ॥
एताश्चाऽन्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥"

वानप्रस्थ सदा ही स्वाध्याय में लीन रहे। द्वन्द्वसहिष्णु, परोपकारी, संयमी, दाता, प्रतिग्रहनिवृत्त और सकल जीवों के प्रति दयाशील हो। जटा, श्मश्रु, नख और लोम धारण करे अर्थात बढ़ावे। सुखकर विषय में अयत्नशील, ब्रह्मचारी और भूमिशय्यापर सोने का नियमधारी हो। वानप्रस्थाश्रमी ये सब नियम तथा अन्य भी तपोवृद्धि में सहायक ऐसे नियमों का पालन करे। एवं आत्मा की उन्नति के लिए उपनिषद् आदि अनेक प्रकार की श्रुतियों का अभ्यास करे।

" उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितॄन्देवांश्च तर्पयेत्।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः ॥

अग्नीनात्मनि वैतानाऽसमारोप्य यथाविधि ।
अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः ॥ "

शक्ति के अनुसार त्रिकालस्नान करके देवता और पितरों का तर्पण करे और तीव्र तपस्या द्वारा शरीर शोषण करे। श्रोताग्नि-समूह को आत्मा में आरोप कर के गृह-शून्य और अग्नि-शून्य रहे। मौन व्रत धारण और फल मूल भोजन करे।

" तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये, शांता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरंतः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयांति, यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥

[मुंडकोपनिषद्]

भिक्षावृत्ति का आश्रय करके जो विद्वान् शान्तस्वभाव वानप्रस्थ, अरण्य में निवास करते हुए तपस्या और श्रद्धा का सेवन करते हैं, वे पुण्य--पाप से मुक्त होकर उत्तरायण पथ से ब्रह्मलोक में जाते हैं।

प्र०—वानप्रस्थाश्रम संन्यास आश्रम से पूर्व क्यों लेना चाहिए।

उ०—जिस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम पूर्णतया पालन किए बिना आदर्श गृहस्थाश्रम का पालन नहीं हो सकता, उसी प्रकार वानप्रस्थाश्रम का पालन किए बिना संन्यास आश्रम आदर्श रूप से पलना मुश्किल है। संन्यास आश्रम के लिए वानप्रस्थाश्रम प्रथम सीढी है।

प्र०—संन्यास आश्रम कब ग्रहण करना चाहिए ?

उ०—" **वनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।**
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत् ॥ " [मनुस्मृति]

आयु का तृतीय भाग वानप्रस्थाश्रम में व्यतीत कर के चतुर्थ भाग में निःसंग होकर संन्यास ग्रहण करे।

" यदा मनसि वैराग्यं जातं सर्वेषु वस्तुषु ।
तदैव संन्यसेद्विद्वान् यथा पतितो भवेत् ॥ " [मैत्रेयोपनिषद्]

सब संसारिक भोगोपभोग से जब मन विरक्त हो जाय तभी उसे संन्यास आश्रम में प्रवेश करना चाहिए। वरना उसका पतन हो जाता है

प्र०—संन्यास-आश्रम किस प्रकार व्यतीत करना चाहिए ?

" आगारादभिनिष्क्रांतः पवित्रोपचितो मुनिः
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ "

पवित्र दण्ड कमण्डलु धारण करे और जो कुछ इन्द्रिय-विषय प्राप्त हों उन में लालसा न रखता हुआ निरपेक्ष विचरण करे ।

" नाभिनन्देत मरणं नाऽभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ "

जीवन या मरण में सुख और आसक्ति न रख कर अपना कर्तव्य करते हुए स्वामिभक्त दास की तरह कालभगवान् की प्रतीक्षा करे ।

" अतिवादाँस्तितिक्षेत नाऽवमन्येत कञ्चन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्यादाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वाराऽवकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ "

किसी से अधिक वाद न करे, अपमानित शद्बों को सुन कर अपनी मानसिक शान्ति न बिगडने दे, किसी का खुद भि अपमान न करे और किसी से शत्रुता न करे। किसी के क्रोध करने पर भी उसके प्रति उलटा क्रोध न करे, किसी के कटु वचन कहने पर भी उस के साथ मीठे वचन बोले । किसी भी हालत में मिथ्या भाषण न करे ।

" अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः
आत्मनैव सहायेन सुखाऽर्थी विचरेदिह ॥ "

सदा ब्रह्मभाव [आत्मज्ञान] में निमग्न रहे, सकल विषयों में निरपेक्ष और लोभशून्य होकर आत्मा को ही सहायक और सुखदायक मान कर विचरण करे ।

" अलाभे न विवादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासंगाद्विनिर्गतः ॥
अभिपूजितलाभाँस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः ।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ॥ "

भिक्षा आदि न मिलने से दुःखित न हो और मिलने पर भी आल्हादित न हो, जिस से केवल प्राणों का अस्तित्व शरीर में बना रहे, उतनी ही भिक्षा ग्रहण करे। अधिक वस्तुप्राप्ति की आसक्ति त्याग करे। अपने आदर सत्कार की लालसा त्याग कर दे क्यों कि इस से उन्नत यती का भी पतन होता है।

प्र०—संन्यासी लोकसंग्रहार्थ किस प्रकार भ्रमण करे?

उ०—**एकरात्रं वसेद्ग्रामे पत्तने तु दिनत्रयम्।**
पुरे दिनद्वयं भिक्षुर्नगरे पञ्चरात्रकम्॥
वर्षास्वेकत्र तिष्ठेत स्थाने पुण्यजलावृते।
आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यन्भिक्षुश्चरेन्महीम्॥
एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः।
आत्मक्रीड आत्मरतिरात्मवान्समदर्शनः॥ (परिव्राजोपनिषद्)

संन्यासी को चाहिए, कि छोटे २ ग्रामों में एक २ दिन, कसबों में दो २ दिन, तहसील के बडे स्थानों में तीन दिन और बडे २ शहरों में पाँच दिन तक ठहर कर लोगों को उपदेश देवे। इस से अधिक दिन सिर्फ बरसात के चार महिने किसी एक स्थान पर अपना आध्यात्मिक उन्नति करते हुए ठहरे। इस प्रकार संन्यासी सब भूतों को आत्मरूप देखता हुआ इन्द्रियों को वश में रख कर लोक-संग्रहार्थ भ्रमण करे। संन्यासी को सदैव अपने आत्म-स्वभाव में या आत्मानंद में ही तन्मय रहना चाहिए।

प्र०—संन्यासी किसे कहते हैं?

उ०—जगत् को भगवान् का और जगत्-सेवा को भगवत्सेवा का रूप मान कर शुद्ध निष्काम और भक्तियुक्त होकर जो कर्म करता है, उसे संन्यासी कहना चाहिए।

"आत्मानं सर्वभूतेषु सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥" [गीता]

योगयुक्त संन्यासी सकल भूतों (जीवों) में अपनें आप को और अपने में सकल भूतों को देखते हैं और वे सर्वत्र समदृष्टि होते हैं।

**" यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवाऽनुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाऽऽभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ "**

[ईशावास्योपनिषद्]

जो सकल भूतों [जीवों] को अपने में और अपने आप को सकल भूतों में देखते हैं, वे किसी से घृणा या द्वेष नहीं करते । जो सम्पूर्ण विश्व को एक विराट आत्मस्वरूप देखते हैं, उनमें मोह और शोक इत्यादि मानसिक विकारों की उत्पत्ति नही होती ।

"काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।" (गीता)

जो लोकसंग्रहार्थ प्रवाहपतित निष्काम कर्म करता है, वह संन्यासी है ।

**"कर्म त्यागान्न संन्यासो न प्रेषोच्चारणेन तु ।
संधौ जीवात्मनोरैक्यं सन्यासः परिकीर्तितः ॥** (मैत्रेयोपनिषद्)

सिर्फ कर्मत्याग करने से कोई संन्यासी नहीं हो सकता । जीव और ब्रह्म में एकत्व भावना हो जाने पर ही वह संन्यासी कहलाता है ।

प्र० ---संन्यासी को हर समय अपनी मानसिक स्थिति किस प्रकार की रखनी चहिए ?

उ०—**"मायातत्कार्य्यदेहाऽऽदिमम नाऽस्त्येव सर्वदा ।
स्वप्रकाशैकरूपोऽहमहमेवाऽहमव्ययः ॥
त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥
अहमेव परं ब्रह्म सच्चिदानन्दरूपकम् ।"**

माया और उसके कार्यरूप स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर मेरे नहीं है, मैं अव्यय स्वयंप्रकाश और अद्वितीय हूँ । समस्त सँसार में जो भोग्य भोक्ता और भोग हैं, मैं उनसे विलक्षण उनका साक्षी और चित्स्वरूप ब्रह्म हूँ । मैं सत्-चित्-आनन्द स्वरूप अद्वितीय परब्रह्म हूँ । इस प्रकार की भावना में सदैव लीन रहना चाहिए ।

प्र०—वर्ण व्यवस्थाकी क्या जरूरत है ?

उ०—व्यक्तिगत उन्नति के लिये जिस प्रकार चार आश्रमों की जरूरत है, उसी प्रकार राष्ट्रकी उन्नति के लिये और सार्वजनिक सुख-शान्ति के लिये चार वर्णों की जरूरत है।

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धि......।" (गीता)

गुण कर्म के अनुसार मैंने चार वर्णों की उत्पत्ति की है।

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥"

[ऋग्वेद १०-१२]

परमात्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जङ्घा से वैश्य और पैर से शूद्र पैदा हुए हैं।

प्र०—ब्राह्मण का क्या कर्म है ?

उ०—"अध्यापनं याजनं च विप्राणां व्रतमुत्तमम्।"

दूसरों को ज्ञान दान करना और परोपकार में अपना सर्वस्व अर्पण करना यह ब्राह्मणों का कर्म है।

"अद्वेष्टा निर्ममःशान्तः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
निर्मत्सरो निष्कपटः स्वव्रतो ब्राह्मणो भवेत्॥"

ब्राह्मण कभी किसी का द्वेष न करे, किसी बात का लोभ न करे, शान्तचित्त, सत्यवादी, और जितेन्द्रिय, हो ईर्ष्या और कपटरहित आचरण करने वाला हो।

"अध्यापयेत् पुत्रबुद्ध्या शिष्यान् सन्मार्गवर्त्तिनः
सर्वलोकहितैषी स्यात् पक्षपातविनिर्मुखः॥"

ब्राह्मण को अपने शिष्य को पुत्र समझ कर पढाना चाहिए और पक्षपात-रहित होकर सब लोक के हित में रत रहना चाहिए।

"मिथ्यालापमसूयाञ्च व्यसनाप्रियभाषणम्।
नीचैः प्रसक्तिं दम्भञ्च सर्वथा ब्राह्मणस्त्यजेत्॥"

[महानि. तंत्र]

असत्य और अप्रिय वचन बोलना, व्यसनों में लिप्त रहना, अभिमान धारण करना, नीचों की सङ्गत करना, ब्राह्मण को सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

"शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेवच।
ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥" [गीता]

अन्तःकरण की शांति, बाह्य इंद्रियों का निग्रह, तपस्या, बाह्याभ्यंतर शुद्धि, क्षमाशीलता, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य यह ब्राह्मणों का स्वाभाविक कर्म है।

"ज्ञानकर्मोपासनाभिर्देवताराधने रतः।
शान्तो दान्तो दयालुश्च ब्राह्मणस्तु गुणैः कृतः॥" [शुक्रनीति]

ज्ञान—कर्म—उपासना में जो शांतिपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करता है। जो दूसरों को अपने ज्ञान तथा दयालुता से लाभ पहुँचाता है वह ब्राह्मण है।

प्र०—क्षात्रियों का क्या कर्तव्य है?

उ०—"शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रंकर्म स्वभावजम्॥" [गीता]

शूरता, तेज, धैर्य, निपुणता, युद्धसे पीछे न हटना, दान, और आस्तिक्य यह क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म है।

"युयुत्सा गर्हिता सन्धौ समानैःसन्धिरुत्तमा।
मृत्युर्जयो वा युद्धेषु राजन्यानां वरानने॥" [महानि. तंत्र]

क्षत्रिय को आदरणीय सन्धि के समय युद्ध की इच्छा त्याग देनी चाहिए। युद्ध की हालत में क्षत्रिय को विजय प्राप्त करना चाहिए या युद्ध में मर मिटना चाहिए।

"अलोभी स्यात् प्रजावित्ते गृण्हीयात् सम्मितं करम्।
रक्षअंगीकृतं धर्मं पुत्रवत् पालयेत् प्रजाः॥"

प्रजा के द्रव्य की अभिलाषा न करना, जो कुछ वेतन हो उसीमें संतुष्ट रहना और पुत्रवत प्रजा का पालन करना यह क्षत्रिय का धर्म्म है।

"लोकसंरक्षणे दक्षः शूरो दान्त पराक्रमी।
दुष्टनिग्रहशीलो यः स वै क्षत्रिय उच्यते॥" [शुक्रनीति]

जो शूर, दानी, पराक्रमी है और दुष्टों का निग्रह करके लोगों के संरक्षण में तत्पर रहता है, वह क्षत्रिय है।

प्र०—वैश्यों के क्या कर्तव्य है?

उ०—"**वैश्यानां कृषिवाणिज्यं वृत्तं विद्धि सनातनम्।**
येनोपायेन लोकानां देहयात्रा प्रसिध्यति॥"

खेती और व्यापार तथा जिन से अपना जीवन निर्वाह उचित रूप से चलता रहे, ऐसे काम करना वैश्य का कर्तव्य है।

"**अतः सर्वात्मना देवि वाणिज्यकृषिकर्मसु।**
प्रमादव्यसनालस्यं मिथ्या शाठ्यं विवर्जयेत्॥" (महानि. तंत्र)

वैश्य के कृषि और व्यापार इत्यादि कार्य है। बेफिकिर रहाना, व्यसन से लिप्त रहना, आलसी होना, झूठ बोलना और दूसरों को धोखा देना इन बातों को छोड देना चाहिए।

"**क्रयविक्रयकुशला ये नित्यं पण्यजीविनः।**
पशुरक्षाः कृषिकरास्ते वैश्याः कीर्तिता भुवि॥" (शुक्रनीति)

जो क्रयविक्रयादि व्यापार कला मे कुशल है और पशुरक्षा, कृषिकार्य के द्वारा जीवन निर्बाह करता है, वह वैश्य है।

प्र०—शूद्रोका क्या कर्तव्य है?

"**दक्षः शुचिः सत्यभाषी जितनिद्रो जितेन्द्रियः।**
अप्रमत्तो निरालस्य सेवावृत्तिर्भवेन्नरः॥"

जिसने सेवावृत्ति स्वीकार की है, उसको सावधान, साफ सुथरा, सत्यभाषी होना, निद्रा को अपने काबू मे रखना और इद्रियो को वशीभूत करना चाहिए। बेफिक्र तथा आलसी न होना चाहिए।

"**प्रभुर्विष्णुसमो मान्यस्तज्जाया जननीसमा।**
मान्यास्तद्बान्धवा भृत्यैरिहामुत्रसुखेप्सुभिः॥"

उसे अपने मालिक को विष्णुसमान तथा मालकीन को अपनी माताके समान मानना चाहिए। और मालिक के स्वजनों के साथ आदरपूर्वक बर्ताव करना चाहिए।

**"भर्तुर्मित्राणि मित्राणि जानीयात् तद्वरीनरीन्
सभीतिः सर्वदा तिष्ठेत् प्रभोराज्ञां प्रतीक्षयन् ॥"**

उसे मालिक के दोस्तों को अपने दोस्त और मालिक के दुश्मनों को अपने दुश्मन समझना चाहिए। और अपने मालिक की आज्ञा पालन करने के लिये हरसमय सावधान रहना चाहिए।

**"अपमानं गृहच्छिद्रं गुप्त्यर्थं कथितं च यत्।
भर्तुर्ग्लानिकरं यच्च गोपयेदतियत्नतः ॥"**

उसे अपने मालिक के अपमान की बात, घर के दोष तथा उसे कही गई गुप्त बातें कभी प्रगट न करना चाहिए।

**"अलोभः स्यात् स्वामिधने सदा स्वामिहिते रतः।
तत्सन्निधावसद्वाषं क्रीडां हास्यं परित्यजेत् ॥"** [महानि. तन्त्र]

उसे अपने स्वामी के धन की अभिलाषा न करनी चाहिए, उसके हित के लिये हरदम तैयार रहना चाहिए और स्वामी के सामने कभी मुहँ से खराब बातें और हास्य-विनोद नही करना चाहिए।

प्र०—क्या, एक वर्ण का मनुष्य दूसरे वर्ण के मनुष्य का कार्य कर सकता है?

उ०—**"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।"** (गीता)

वास्तव में अपने अपने वर्ण के अनुसार चलना ही व्यक्ति के लिये उन्नतिकारक और समाज के लिये हितकारक है। तथापि आपत्ति समय में जरूरत पडने पर कुछ काल तक एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण का कार्य कर सकता है।

प्र०—वर्ण-व्यवस्था जन्म से है या कर्म से?

उ०—**"न विशेषोस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मणा वर्णतां गतम् ॥
शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद् वैश्यात्तथैव च ॥"** [महाभारत]

वर्णों में कोई ऊँच नीच नहीं है। यह सब वर्ण परब्रह्म से ही पैदा हुए हैं। इस के बाद अपने २ स्वभावानुसार चार वर्णों में विभक्त किए गये हैं। शूद्र

अपने आचरण से ब्राह्मण हो सकता है और ब्राह्मण अपने आंचरण से शूद्र हो सकता है। ऐसे ही क्षत्रिय और वैश्य भी अपने २ गुणकर्म के अनुसार ब्राह्मण और शूद्र हो सकते हैं।

" चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। " [गीता]

मैंने गुण और कर्म पर ही चार वर्णों की स्थापना की है।

प्र०—ब्रह्मज्ञान का अभ्यास क्या सिर्फ ब्राह्मण को ही करना चाहिए ?

उ०—नहीं, प्रत्येक वर्ण के प्रत्येक व्यक्ति को ब्रह्मज्ञान का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

प्र०—चारों वर्णों के लोग किस प्रकार रहें ?

उ०—आत्मोन्नति करने में पूर्ण स्वतंत्र रहें और संसारिक कार्य में परतंत्र रहें।

प्र०—जन्म का गुणकर्म पर कुछ असर हो सकता है या नहीं ?

उ०—गुण और कर्म अर्थात् विचार और आचार पर, वंश—परंपरा का बहुत कुछ असर होता है और सामान्य व्यक्तियों का जीवन आनुवंशिक संस्कारों के अनुसार ही व्यतीत हुआ करता है। सिर्फ असामान्य व्यक्ति ही इसमें अपनी इच्छानुसार परिवर्तन कर सकते हैं।

प्र०—चारों वर्णों के लोग परस्पर रोटी—बेटी व्यवहार शुरू कर दें तो कोई हर्ज है ?

उ०—प्रत्येक वर्ण के लोगों को अपने २ वर्ण में ही शरीर—सम्बध करना चाहिए। क्यों कि इसीसे उस वर्ण के खास गुणों की दिन पर दिन ज्यादह २ उन्नति होति रहती है। ऐसा न होने पर परस्पर-विरोधी गुणों का मेल होकर दिन ब-दिन उस वर्ण से सम्बन्ध रखने वाले खास २ गुण लुप्त होने लगते है। और इस से वर्ण—जाति बलहीन हो जाती है।

भोजनादि—व्यवहार भी एक करना, जहाँ तक हो, ठीक नहीं। क्यों कि ऐसा होने से परस्पर दो जाति के लोगों में घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है और अति-परिचय के द्वारा परस्पर का विचार-विनियम और सान्निध्य बढता है और परस्पर विरोधी गुणों से गुण-विशेषता की उन्नाति होने के बदले दुर्बलता बढने की ही विशेष संभावना रहती है।

प्र०—क्या अन्यधर्मानुयायी हिन्दू धर्म में आ सकते हैं?

उ०—हाँ, अन्यधर्मावलम्बी अनार्यों को उनकी इच्छा और आचार के अनुसार प्राचीन काल में व्रात्यस्तोम यज्ञ करके आर्य लोग अपने धर्म में लेकर आर्य बनाते थे। **व्रात्य**—पतित, अनार्य, परधर्मी और विदेशी लोग ही थे। इन व्रात्यों को अपने धर्म में शामिल करने का उल्लेख सामवेद के ताण्ड्य ब्राह्मण में है। इसके बाद भागवत काल में भी परधर्मीयों को अपने धर्म में शामिल करने का उल्लेख मिलता है—

" किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कसा आभीरकंका यवनाः खसादयः।
येन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥"
(श्रीमद्भागवत)

जिस धर्म का आश्रय करने पर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कस, आभीर, कंक, यवन, खश इत्यादि अनार्य जाति के मनुष्य भी पुण्यशील और सदाचारी होते हैं, ऐसे धर्म को नमस्कार है।

तंत्र-काल में भी अन्य धर्मियों को शामिल करने का उल्लेख मिलता है—

" अहो पुण्यतमाः कौलाः तीर्थरूपाः स्वयं प्रिये।
ये पुनन्त्यात्मसम्बन्धान् म्लेच्छश्वपचपामरान् ॥" [महानि. तंत्र]

ये तान्त्रिक (कौल) लोग कितने पुण्यशील हैं, कि जिस प्रकार गँदला जल पवित्र जल-प्रवाह के मिलने से वह भी पवित्र हो जाता है, उसी प्रकार पापी, दुराचारी और म्लेच्छों को अपने में सम्मिलित करके उन्हें भी पवित्र बनाते हैं।

" गंगायां पतिताम्भांसि यान्ति गांगेयतां यथा।
कुलाचारे विशन्तोऽपि सर्वे गच्छन्ति कौलताम् ॥
चाण्डालं यवनं नीचं मत्वा स्त्रियमावज्ञया।
कौलं न कुर्यात् यः कौलः सोऽधमो यात्यधोगतिम् ॥" (महानि. तंत्र)

जिस प्रकार गंगा में मिला हुआ जल गंगाजल हो जाता है, उसी प्रकार दूसरे धर्मावलम्बी इस में आने से कौल हो जाते हैं। जो कौल अन्य मनुष्य को चाण्डाल, नीच और यवन समझ कर अपन में सम्मिलित नहीं करता वह अधोगति को प्राप्त होता है।

मुसलमानों के राजत्वकाल में जब हिन्दू समाज मुसलमानों को अपने धर्म में शामिल करने के लिए राजी न हुआ तब गुरु नानक ने मुसलमानों को हिन्दू धर्म में सम्मिलित करने के लिए सिख संप्रदाय का प्रचार किया था। इसी प्रकार कबीर-पथ इत्यादि हिन्दू धर्म में मुसलमानों को सम्मिलित करने के लिए निकले थे। श्रीछत्रपति शिवाजीने एक मुसलमान हिन्दूको फिर से अपने धर्म में सम्मिलित कर के अपनी लडकी उसको व्याह दी थी।

प्र०—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के लोगो को शूद्र वर्ण के लोगों के साथ क्या अस्पृश्यता का व्यवहार रखना चाहिए ?

उ० "**परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्**"।

शूद्र का कर्म तीन वर्णों की सेवा करने का है, इस लिए शूद्र अस्पृश्य हो ही नही सकते, फिर उनके साथ मे अस्पृश्यता रखना तो दूर रहा।

प्र० तो क्या, अछूत ऐसी कोई अलग जाति है ?

उ०- नही; प्रत्येक जाति चार वर्णोंमे गर्भित है और चार वर्णों से ही विभक्त हुई है। अतएव कोई जाति अछूत नही हो सकती। अछूत व्यवहार हिन्दू समाज मे पतितो के लिए दण्डरूप से प्रचलित हुआ है।

प्र०—पतित किसे कहना चाहिए ?

उ० —"**सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः।**
तासामेकामिदभ्यंहुरोऽगात् ॥" (ऋ. १०।५।६)

"**सप्तैव मर्यादाः कवयस्ततक्षुः। तासामेकामपि अभिगच्छन्नंहस्वान् भवति। स्तेयं, तल्पारोहणं, ब्रह्महत्यां, भ्रूणहत्यां, सुरापानं, दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां, पातकेऽनृतोद्यम्।**" (निरुक्तम्)

चोरी, व्यभिचार, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, मद्यपान इत्यादि दुष्ट कार्य बार २ करना और छुपाने के लिए झूठ बोलना इस प्रकार व्यवहार करनेवाले को पतित कहते हैं।

"**स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन्।**
ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पंचमश्चाचरंस्तैः ॥"
(छां. उ. ५।१०।९)

"ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वंगनागमः ।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥" (मनुस्मृति)

चोरी, मद्यपान, व्यभिचार, विद्वान् की हत्या, गर्भपात, बालहत्या, परस्त्रीगमन, दुष्ट कर्म बार बार करना, पाप करके झूंठ बोलना, गौहत्या करना, पतितों के लक्षण हैं और ऐसों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाला भी पतित है। ऐसे व्यक्तियों के साथ हिन्दू धर्म में सम्बन्ध न रखने की आज्ञा है।

प्र०—हिन्दू धर्म में शूद्र वर्ण को अन्य तीन वर्णों की कक्षा में ही रखा है या इनसे नीचा स्थान दिया है?

उ०—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हिन्दू धर्म की दृष्टि में समान ही महत्व रखते हैं। और इसी लिये शूद्रों को भी वेदाध्ययन, उपनयन इत्यादि संस्कार अन्य वर्णों के अनुसार करने की सम्मति है।

"शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम् ।" (पारस्कर-गृह्यसूत्रटीका)

दुष्ट कर्म न करनेवाले शूद्रों का उपनयन संस्कार करना चाहिए।

"तेषां संस्कारेप्सवो व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीरन् ।
व्यवहार्यो भवतीति वचनात् ।" (पारस्कर-गृह्यसूत्र)

पतित होने वालों का व्रात्यस्तोम कर के उपनयन संस्कार करना चाहिए और वे खुशी से वेदका अध्ययन करें।

"ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा चरितव्रतः ।
गायत्रीं मम वा देवीं सावित्रीं वा जपेत् ततः ॥"
[वृद्धगौतमस्मृति अ० १६]

सदाचारी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों को वेदाध्ययन और गायत्री मंत्र पढ़ने का अधिकार है।

"अन्तर्धिने वा शूद्राय ॥ ४ ॥" (आपस्तम्बधर्मसूत्र)

गुरु के घर में शूद्र का शूद्रत्व नहीं रहता। अर्थात् प्राचीन काल में चारों वर्णों के छात्र समान भाव से गुरु के पास विद्या पढ़ते थे।

छांदोग्योपनिषद् में एक कथा सत्यकाम जाबालि की है— सत्यकाम एक व्यभिचारी शूद्री से पैदा हुआ था। जब वह गौतम ऋषि के पास पढ़ने के लिए गया, तो गौतम ने गोत्र पूँछा। उसने कहा कि मुझे "अपना गोत्र मालूम नहीं और मेरी माता से पूँछने पर ज्ञात हुआ कि तरुण परिचारिणी होने की अवस्था में मैं पैदा हुआ था, इस लिए उसे भी गोत्र ज्ञात नहीं है। सिर्फ उसका नाम जाबालि और मेरा नाम सत्यकाम है।" यह सुनकर गौतम ने कहा—

"नैतद् ब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यागदा इति तं उपनीय..............."

तू सत्य से पराङ्मुख नहीं हुआ, इस लिए मैं तेरा उपनयन करता हूँ। उपनयन के बाद वेदाभ्यास करके सत्यकाम बडा आचार्य हो चुका है।

प्र०—नीच कुल का व्यक्ति तपश्चरण इत्यादि द्वारा उच्च, और उच्च कुल का व्यक्ति दुराचार इत्यादि करके नीच, हो सकता है या केवल कुल में जन्म लेने से ही ऊँच नीच समझना उचित है?

उ०—**"ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्तमानो विकर्मसु।**
दांभिको दुष्कृतः प्राज्ञः शूद्रेण सदृशो भवेत्॥
यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः।
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः॥" (महाभारत)

जो ब्राह्मण बुरे और नीच काम करता है और जो ठग, पापी, और अज्ञानी है वह शूद्र ही है और जो शूद्र दम, सत्य और धर्म का सदैव पालन करता है वह ब्राह्मण ही है; कारण, सदाचार से ही द्विजत्व प्राप्त होता है।

"न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव च।
न शूद्रो न च वै म्लेंच्छो भेदता गुणकर्मभिः॥"
(शुक्रनीति. १-३०)

सिर्फ जन्म से कोईभी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या म्लेंच्छ नही होता ये सब भेद गुण और कर्म से होते है।

"वर्णोत्कर्षमवाप्नोति नरः पुण्येन कर्मणा।
दुर्लभं तमलब्ध्वा हि हन्यात् पापेन कर्मणा॥" (महाभारत)

शुभ कर्म करने से उच्च वर्ण प्राप्त होता है और अशुभ कर्म करने से उच्च वर्ण की प्राप्ति होकर भी नीचत्व प्राप्त होता है।

महाभारत में कई कथाएँ ऐसी हैं जिनसे ज्ञात होता है, कि बहुतसे ऋषि शूद्रकुल में पैदा होकर उच्चत्व को प्राप्त हुए हैं।

"वीतहव्यश्च नृपतिः श्रुतो मे विप्रतां गतः।" [महाभारत अनु० ३०]

मैंने सुना है कि वीतहव्य राजा भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुआ।

"स्थाने मतंगो ब्राह्मण्यमलभद् भरतर्षभ।
चांडालयोनौ जातो हि कथं ब्राह्मण्यमाप्तवान्॥"
[महाभारत अ० ५० ३]

मतंग चाण्डालयोनि में पैदा होने पर भी उसी देह में अपने तपोबल से ब्राह्मण हुआ।

"पृषध्रस्तु गुरुगोवधात् शूद्रत्वमगमत्।" [विष्णु पुराण]

पृषध्र ब्राह्मण होने पर भी गौहत्या करने के कारण शूद्र हुआ।

"जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः श्वपाक्याश्च पराशरः।
शुक्याःशुकः कणादाख्यस्तथोलूक्याः सुतोऽभवत्॥
मृगीजोऽथर्ष्यशृंगोपि वसिष्ठो गणिकात्मजः।
मंदपालो मुनिश्रेष्ठो लाविकापत्यमुच्यते॥
मांडव्यो मुनिराजस्तु मंडूकीगर्भसंभवः।
बहवोन्येऽपि विप्रत्वं प्राप्ता ये पूर्ववद् द्विजाः॥"

कोली स्त्री से व्यास, चाण्डालस्त्री से पराशर, शुकी से शुक, उलूकी से कणाद, गणिका से वसिष्ठ, लाविका से मंदपाल और मंडूकी से मांडव्य पैदा हुए।

प्र०—उच्च वर्ण के व्यक्ति यदि नीच वर्णवालों के साथ में खान-पान करें तो क्या उन्हें हीनत्व प्राप्त होता है?

उ०—खान पान करने से वर्ण में किसी प्रकार की हीनता प्राप्त नहीं हो सकती, किन्तु अभक्ष्यसेवन में हीनता और पाप है। प्राचीन समय में आवश्यकता पडने पर परस्पर वर्णों में खान-पान की रुकावट नहीं थी।

" सर्ववर्णानां स्वधर्मे वर्तमानानां भोक्तव्यम् । "

[आपस्तम्ब धर्मसूत्र]

सब वर्ण के व्यक्ति यदि वे अपने २ धर्म के अनुसार चलते हों तो परस्पर में भोजनव्यवहार करें ।

श्रीरामचन्द्रजी ने शबरी का आतिथ्य स्वीकार किया था—

" पाद्यमाचमनीयं च सर्वं प्रादद् यथाविधिः । " (वाल्मि० रा०)

शबरी ने यथाविधि पाद-प्रक्षालन और आचमन इत्यादि किया ।

" गुहो राघवमब्रवीत् ।
यथाऽयोध्या तथेदं ते राम किं करवाणि ते ॥ "

" ततो गुणवदन्नाद्यं उपागृह्य यथाविधम् ।
अर्घ्यं चोपानयच्छीघ्रं वाक्यं चेदमुवाच ह ॥
भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च लेह्यं चैतदुपस्थितम् । "

गुह ने रामचन्द्रजी को आलिंगन किया और कहने लगा—" हे राम, अयोध्या के समान ही यह स्थान आपके लिए है । अब मैं आपके लिए क्या करूँ, आज्ञा हो । " बाद में अच्छे २ स्वादिष्ट भोजन करने योग्य (भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य) चार प्रकारका आहार उसने लाकर रामचन्द्रजी को दिया ।

ब्राह्मण के वेषमें आये हुए रावण को सीता नें आदरपूर्वक भोजन दिया था ।

"इयं बृसी ब्राह्मण काममास्यतां इदं च पाद्यं प्रतिगृह्यतामिति ।
इदं च सिद्धं वनजातमुत्तमं त्वदर्थ मव्यग्रमिहोपभुज्यताम् ॥ "

(वा० रामा०)

ब्राह्मण के वेष में आये हुए रावण को सीता ने आसन, अर्घ्य, पाद्य, दिया और कहा कि भोजन तैयार है, यह तेरे लिए ही बनाया है, इस लिए भोजन कर ।

दुर्वास ऋषि अपने शिष्यों सहित पांडवों के घर भोजन करने के लिये आधी रात को गये थे, उस समय द्रौपदी और श्रीकृष्ण ने भोजन बना कर रखा था । दुर्वास ऋषि एक व्याध के यहाँ भी भोजन करने गये थे—

"यवगोधूमशालीनामन्नमेव सुसंस्कृतम्।
दीयतां मे क्षुधार्ताय त्वामुद्दिश्यागताय च ॥"

दुर्वास ऋषि ने व्याध के घर जाकर कहा, कि हे व्याध, जव, गेहूँ, चावल इत्यादि से उत्तम बना हुआ भोजन मुझे मिलेगा इस आशा से मैं आया हूँ।

प्र०—आपद्धर्म किसे कहते हैं ?

उ०—आपत्ति की असुविधाओं को सन्मुख रख कर वर्तमान देश, काल और पात्र के विचारानुसार सद्भाव के अवलम्बन से जो धर्म्म निर्णय होता है, उसी को आपद्धर्म कहते हैं।

प्र०—आपद्धर्म का निर्णय कौन करे ?

उ०—"अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
ये शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशंकितः ॥" [मनुस्मृति]

आपद्धर्मका निर्णय करना बहुत कठिण है। यदि कर्ता ज्ञानी न हो, संयमी न हो और स्वार्थपर हो, तो अपनी दुर्बलता के कारण वह अपनी असुविधाओं को आपत् करके मानने लगेगा और अपनी इन्द्रियचरितार्थता को ही आपद्धर्मसाधन का कारण समझ लेगा। इस लिए तत्कालीन शिष्टजनों पर ही यह भार रहना उचित है और उन्हीं की आज्ञानुसार सब जनता को धर्मपालन करना चाहिए।

प्र०—शिष्ट किसे कहना चाहिए ?

उ०—"उपदिष्टो धर्मः प्रतिवेदम्। स्मार्तो द्वितीयः। तृतीयः शिष्टागमः। शिष्टाः खलु विगतमत्सरा निरहंकाराः कुंभीधान्या अलोलुपा दंभ-दर्प-लोभ-मोह-क्रोधविवर्जिताः।"

शिष्ट उसे कहते है जो ईर्ष्या, अहंकार, लोलुपता, दंभ, मान, मोह, और क्रोध से रहित हो। ऐसे शिष्ट अर्थात् सज्जनों की आज्ञानुसार आपत्काल में जनता को अपना आचारण रखना चाहिए।

प्र०—आपत्काल में पहिले धर्मानुष्ठान करना उचित है या आत्मरक्षा ?

उ०—आपत्काल में पहिले आत्मरक्षा करना ही उचित है, धर्मानुष्ठान उस समय गौण है—

"देशभंगे प्रवासे वा व्याधिषु व्यसनेष्वपि ।
रक्षेदेव स्वदेहादि पश्चाद्धर्मं समाचरेत् ॥
येन केन च धर्मेण मृदुना दारुणेन च ।
उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥
आपत्काले तु सम्प्राप्ते शौचाचारं न चिन्तयेत् ।
स्वयं समुध्दरेत् पश्चात् स्वस्थो धर्मं समाचरेत् ॥"

[पाराशर संहिता]

देश में राजनैतिक आपत्ति या विद्रोह उत्पन्न होने पर, प्रवास करते समय, व्याधि में ग्रसित होने की हालत में, मनुष्य पर और भी अन्यान्य आपत्तियाँ आने पर सब से पहले अपनी शरीररक्षा का उपाय करना चाहिए। इसके बाद में धर्मानुष्ठान करना चाहिए। आपत्कालमें मृदु या दारुण किसी उपाय से भी दीन आत्मा की रक्षा करनी चाहिए। इसके बाद जब धर्मानुष्ठान की सामर्थ्य हो तब स्वधर्मानुष्ठान करे। शौचाचारका आपत्ति में कुछ भी ख्याल न कर विपत्ति से बचने की चेष्टा करनी चाहिए। तत्पश्चात् धर्माचरण करना चाहिए।

प्र०—आपत्काल में जीवनानिर्वाह किस प्रकार करना चाहिए ?

उ०—"विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः ।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥"

विद्या, शिल्पकार्य, नोकरी, सेवा, गोरक्षा, वाणिज्य, कृषि, धृति, भिक्षा और सूदग्रहण [सूद लेना] ये दस प्रकार के जीवनोपाय आपत्काल में सुविधा और शक्ति के अनुसार सभी वर्णों के लिये विहित हैं।

प्र०—आपत्काल का धर्म कब तक पालना चाहिए ?

उ०—"आपत्कालस्य यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः ।
स नाऽऽप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥"

जो लोग आपद्धर्म का पालन आपत्काल के बाद में भी करते हैं, वे पाप के भागी होते हैं। अर्थात् आपद्धर्म को आपत्काल तक ही पालना चाहिए।

प्र०—धर्मघातकी के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए ?

उ०—"**आततायिममायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।**"

"**भ्रन्धर्मेण न दुष्यति ।**" [मनुस्मृति]

आततायी को अर्थात् धर्मघातकी को एक क्षण का भी विलम्ब न करके मारना चाहिए और ऐसे मारनेवाले को पातक नहीं लगता ।

प्र०—आततायी किसको कहते हैं ?

उ०—"**अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।**

क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते आततायिनः ॥" [मनुस्मृति]

घर जलाने के लिए आनेवाला, विष देनेवाला, शस्त्र लेकर मारने आया हुआ, चोरी करनेवाला, स्त्री और जमीन हरने वाला अर्थात् अपने स्वार्थ के लिए दूसरे की हानि करनेवाला, आततायी कहलाता है ।

राजधर्म ।

प्र०—राजा का कर्तव्य क्या है ?

उ०—"**प्रजापालनं वर्णाश्रमाणां स्वे स्वे धर्मे व्यवस्थापनम् ।**"

समाज के चारों वर्णों और आश्रमों द्वारा उनके निश्चित कर्त्तव्यों का यथोचित पालन करवा लेना, यही प्रजा की रक्षा और प्रजा पालन करने का उपाय राजा के लिए है और यही राजाका कर्तव्य है ।

"**राजा प्रजारंजनात् ।**" (शांतिपर्व)

प्रजो को सुखी रखना राजा का कर्त्तव्य है ।

"**राजा प्रजानां हृदयं गरीयः ।**

प्रजाश्च राज्ञोऽप्रतिमं शरीरम् ॥" (शांतिपर्व)

जिस प्रकार शरीर सुदृढ और निरोगी रहने के लिए हृदय अच्छा चाहिए उसी प्रकार प्रजा सुखी रहने के लिए राजा अच्छा चाहिए।

" लोकरंजनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः।
सत्यस्य रक्षणं चैव व्यवहारस्य चाऽऽर्जवम् ॥
आत्मवांश्च जितक्रोधः शास्त्रार्थकृतनिश्चयः।
धर्मे चाऽर्थे च कामे च मोक्षे च सततं रतः ॥
अक्रोधनो ह्यव्यसनी मृदुदण्डो जितेन्द्रियः।
राजा भवति भूतानां विश्वास्यो हिमवानिव ॥
पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः ॥ " (महाभारत)

सत्यरक्षा, व्यवहार में सरलता और प्रजारंजन ही राजा का सनातन धर्म है। आत्मवान्, क्रोधहीन, शास्त्रार्थ के द्वारा निश्चय करनेवाले, धर्मार्थकाममोक्ष में सदा तत्पर, व्यसनदोषशून्य, मृदु दण्ड देनेवाले और जितेन्द्रिय राजा सभी के प्रिय और विश्वासपात्र होते हैं। पितृगृह में पुत्र की तरह जिसके राज्य में प्रजा निर्भय हो कर विचरण कर सकती है, वही राजा सर्वश्रेष्ठ है और यही राजा का कर्त्तव्य है।

" विद्यावत्सु शरच्चंद्रो निदाघार्को द्विषत्सु च।
प्रजासु च वसंतार्क इव स्यात्त्रिविधो नृपः ॥ " [शुक्रनीति]

राजा विद्वानों में शरद् ऋतु के चंद्रमा के समान, शत्रुओं में ग्रीष्म ऋतु के सूर्य के समान, और प्रजाओं में वसंत ऋतु के सूर्य के समान तीन प्रकार से रहे।

" धर्माय राजा भवति न काम करणाय तु ॥ " [शान्तिपर्व ९०.३]

प्र०—राजा को किस प्रकार अपना कर्तव्य पूरा करना चाहिए?

उ०— "ग्रामान्पुराणि देशांश्च स्वयं संवीक्ष्य वत्सरे।
अधिकारिगणैः काश्च रंजिताः काश्च कार्षिताः ॥
प्रजास्ताः साधुभूतेन व्यवहारं विचिंतयेत्।
न भृत्यपक्षपाती स्यात् प्रजापक्षं समाश्रयेत् ॥

प्रजाशतेन संद्विष्टं संत्यजेदधिकारिणम् ।
अमात्यमपि संवीक्ष्य सकृदन्यायगामिनम् ॥
एकांते दण्डयेत् स्पष्टमभ्यासापकृतं त्यजेत् ॥" (शुक्रनीति)

राजा प्रतिवर्ष ग्राम, नगर और देश में स्वयं घूमकर प्रजा के सुखदुखों का अवलोकन करे। अधिकारियों ने किस प्रजा को सुखी रखा और किस प्रजा को दुःखी रखा इसकी खूब छानबीन करे। इस प्रकार छानबीन करते समय राजा प्रजा का पक्ष ग्रहण करे नौकरों का पक्ष ग्रहण न करे। सौ आदमी जिस अधिकारी से नाराज हों उसे अधिकारच्युत (बरखास्त) कर देवे। मंत्री भी इसी प्रकार दोषी हुआ हो तो उसे एकबार एकांत में समझा देवे, इतने पर भी यदि वह अन्याय करे तो उसे भी अधिकारच्युत कर दे। प्रजा को नाराज रखना यही अधिकारियों का अपराध है। यह अपराध यदि मंत्री भी करे तो उसे पदच्युत कर देना चाहिए।

" नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।
नित्यं संवृतसंवार्यो नित्यं छिद्राऽनुसार्यरेः ॥
बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चाऽवलुम्पेत शशयच्च विनिष्पतेत् ॥
एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः ।
तानानयेद् वशं सर्वान् सामाऽऽदिभिरुपक्रमैः ॥ "

सदैव सेनाओं को सुशिक्षा प्रदान करना, सदा पौरुष दिखाना, गोपनीय विषयों को सदा गोपन करना और शत्रुओं का छिद्रान्वेषण करना राजा का कर्तव्य है। बक की तरह अर्थचिंता, सिह की तरह पराक्रमप्रदर्शन, भेडियों की तरह शिकार और दुर्बल होने पर शशक की तरह पलायन करना चाहिए। विजय के लिये सर्वथा प्रस्तुत राजा को इस प्रकार अपना आचरण रखना चाहिए। इसके विरुद्ध जो व्यक्ति बाधा पहुँचाय, उसे साम, दाम, दण्ड और भेद इन चार उपयों से वशीभूत करना राजा का कर्तव्य है।

"नोच्छिद्यादात्मनो मूलं परेवाञ्चाऽतितृष्णया ।
उच्छिदन् ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयत् ॥

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात् कार्यं वीक्ष्य महीपतिः ।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति सम्मतः ॥
एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन् ।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥"

प्रजा के प्रति अति स्नेह-वश उससे कुछ भी कर न लेना या अतितृष्णावश प्रजा का सर्वस्व ग्रहण करना, जिससे कि खुद राजा का या प्रजा का मूलोच्छेदन ही हो जाय, राजा का कर्तव्य नहीं है। कार्य के अनुसार राजा को कभी मृदु और कभी तीव्र होना चाहिए। इस प्रकार मृदु और तीव्र भावधारी राजा सभी के प्रिय होते हैं।

प्र०—राजा कैसी शिक्षा प्राप्त करे ?

उ०—"त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्याद् दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चाऽऽत्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥
इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् ।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥
दश कामसमुत्थानि तथाऽष्टौ क्रोधजानि च ।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥
कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥
मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियोमदः ।
तौर्य्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥
पैशुन्यं साहसं द्रोहं ईर्ष्याऽसूयाऽर्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥"

त्रिवेद के ज्ञाता ब्राह्मणों से वेदत्रयी की शिक्षा, और अर्थशास्त्रज्ञ पण्डितों से दण्डनीति की शिक्षा, तार्किक और वैदान्तिकों से तर्कशास्त्र और ब्रह्मविद्या की शिक्षा और कृषि वाणिज्य और पशुपालनादि द्वारा द्रव्योपार्जन की शिक्षा राजा अवश्य प्राप्त करे ।

इन्द्रियों पर आधिपत्य लाभ करने के लिए राजा को सदैव सचेष्ट रहना चाहिये। क्योंकि जितेन्द्रिय राजा ही अपनी प्रजाओं को वशीभूत रख सकते हैं। दश प्रकार के कामज और आठ प्रकार के क्रोधज व्यसनों का राजा अवश्य ही त्याग करे। कामज व्यसन में आसक्त नृपति धर्म और अर्थ से वञ्चित होते हैं और क्रोधज व्यसन में आसक्त नृपति प्राणों से भी वञ्चित होते हैं। मृगया, द्यूतकर्म, दिन में सोना, परदोषकथन, स्त्रियों में आसक्ति, दम्भ, अहंकार, वाद्य, नृत्य, गीत और वृथा भ्रमण ये दश दोष कामज हैं। वृथा दोषकल्पना, दुःसाहस, द्रोह, ईर्ष्या, द्वेष, परधनहरण, कठोर वचन और कड़ा दण्ड देने की आज्ञा ये आठ क्रोधज दोष हैं

प्र०—यदि राजा अधार्मिक और अन्यायी हो तो उसके साथ प्रजा को कैसा व्यवहार करना चाहिये?

उ०—गुणनीतिबलद्वेषी कुलभूतोऽप्यधार्मिकः।
नृपो यदि भवेत् तन्तु त्यजेद्राष्ट्रविनाशकम्॥
तत्पदे तस्य कुलजं गुणयुक्तं पुरोहितः।
प्रकृत्यनुमतं कृत्वा स्थापयेद्राज्यगुप्तये॥"

जो राजा गुण, नीति और प्रचलित राजनियम और बल का द्वेष करनेवाला और अधार्मिक होगया हो ऐसे राष्ट्रविनाशक राजा को पदच्युत करके उसके स्थान पर उसी कुल के किसी गुणवान् व्यक्ति को राजा के पद पर राजपुरोहित प्रजा की अनुमति लेकर अधिष्ठित करे। प्रकृति (प्रजा-प्रतिनिधियों) में पुरोहित (अध्यक्ष) ही सर्वश्रेष्ठ है। अत एव प्रजा राजपुरोहित को योग्य सम्मति देकर दुष्ट और अन्यायी राजा को दूर करके अच्छे गुणी राजा को गद्दी पर बैठावे।

प्र०—राजा किसकी सहायता से राज्य चलावे?

उ०—"मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान् कुलोद्गतान्
सचिवान् सप्त चाऽष्टौ च प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥
तैःसार्द्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च॥"

पुरुषानुक्रम से राजकर्मचारी, वेदादिधर्मशास्त्र में पारदर्शी, स्वयंशूर, युद्धविद्यामें निपुण, सत्कुलोद्भव और परीक्षित ऐसे सात या आठ मंत्री राजा के पास रहने चाहिए। सन्धि, विग्रह, चतुर्विध सेनाओं का पोषण, राजधनवर्द्धन, प्रजारक्षण और उपार्जित धन का सुपात्र में दान इन सब विषयों में राजा मंत्रियों के साथ सत्परामर्श करता रहे।

प्र०—राजमंत्री कैसे हों ?

उ०—"मंत्रानुष्ठानसंपन्नस्त्रैविद्यःकर्मतत्परः।
जितेन्द्रियो जितक्रोधो लोभ-मोह-विवर्जितः॥
षडंगवित्सांगधनुर्वेदविद्यार्थवित्।
यत्कोपभीत्या राजापि धर्मनीतिरतो भवेत्।
नीतिशस्त्रास्त्रव्यूहादिकुशलास्तु मन्त्रिणः॥"

राजमंत्री धार्मिक, तीन विद्याओं को जाननेवाला, कर्मतत्पर, जितेन्द्रिय, जित-क्रोधी, लोभ और मोह से बिलकुल दूर रहनेवाला, षडंगविद्या में पारङ्गत, अंग-सहित धनुर्वेद का पूर्ण अभ्यासी, जिसके कोप से राजा भी धर्म और नीति का अवलम्बन करता रहे ऐसा राजनीतिज्ञ, शस्त्र, अस्त्र, व्यूहादिकुशल होना चाहिए।

प्र०—राज्यसभा के सभासद कैसे हों ?

उ०—"श्रुताध्ययनसम्पन्नाः धर्मज्ञाः सत्यवादिनः।
राज्ञः सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः॥" (याज्ञवल्क्य)
"स तु सभ्यैः स्थिरैर्युक्तः प्राज्ञैर्मौलै द्विजोत्तमैः।
धर्मशास्त्रार्थकुशलैरर्थशास्त्रविशारदैः॥" [कात्यायन]

सब प्रजा के द्वारा चुने हुए राजसभासद राष्ट्रकार्य में अनुभवी, सुशिक्षित, सदाचारी, सत्यवादी, शत्रु, मित्र सब पर समान दृष्टि रखनेवाले, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र में पारङ्गत और निडर हों।

प्र०—राज्यप्रतिनिधियों का कर्तव्य क्या है ?

उ०—"अहितं चापि यत्कार्यं सद्यः कर्तुं यदौचितम्।
अकर्तुं यद्धितमपि राज्ञः प्रतिनिधिः सदा॥" [शुक्रनीति]

यदि किसी कार्य करने में उपर से आहित मालुम होता है तथा उस के करने में राजाका भी अहित होता हो, परन्तु वास्तव में उस कार्य से प्रजा का हित हो, तो प्रतिनिधि को चाहिए कि वह उस कार्य को अवश्य करे ।

प्र०—देश में अच्छी या बुरी परिस्थिति होने का कारण कौन है ?

उ०—" **राजा कृतयुग स्रष्टा त्रेता या द्वापरस्य च ।**
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ॥
युगप्रवर्तको राजा धर्माधर्मप्रशिक्षणात् ।
युगानां न प्रजानां न, दोषः किन्तु नृपस्य हि ॥
कालो वा कारणं राज्ञा राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो माभूत् राजा कालस्य कारणम् ॥ "

(महाभारत-शान्तिपर्व)

देश में अच्छी या बुरी परिस्थिति होने का कारण राजा और उस के सहायक ही हैं । राजा ही सतयुग को ला सकता है, राजा ही त्रेताका सुख दिला सकता है, द्वापार का लाना भी राजा के हाथों में है और कलियुग का भयानक दृश्य भी राजा ही दिखा सकता है । देश की अवस्था बुरी है तो न यह युग का दोष है और न यह प्रजाओं का ही अपराध है, किन्तु इस का सारा कारण राजा और उस के सहायक मंत्रीगण हैं । क्यों कि उन्ही के कुप्रबन्ध से देश की अवस्था खराब हो जाती है । क्या समय राजा का कारण है या राजा समय का कारण है, यह संशय व्यर्थ है । असल में राजा ही समय का कारण है ।

प्र०—प्रजा किस व्यक्ति को अपना राजा होने के लिए चुने ?

उ०—" **असयत्नं सुवध्वम् महते क्षत्राय, महते जेष्ठाय, महते ज्ञान राज्याय इन्द्रस्येन्द्रियाय ।** " [यजुर्वेद ९।४०]

जिसका कोई विरोधी न हो, सारा राष्ट्र जिसके पक्षमें हो, जो महान् पराक्रमी, सब में श्रेष्ठ, पूर्ण ज्ञानी और संमयी हो ऐसे पुरुष को राजा बनाना चाहिए ।

" **रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पाति पतिम् ।**
वसवस्त्वां पुरस्तादभिषिञ्चन्तु......। " [तैतरीय कृष्णयजुर्वेद]

जो रथियों में सर्वश्रेष्ठ महारथी है, जो युद्धविद्या का सब से योग्य पण्डित है, उसको सभी प्रजा के विद्वान् पुरुष मिलकर राज सिंहासनपर अभिषिक्त करें।

" नित्यं यस्तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्तयेत् ।
स एवं राजा कर्तव्य स्तेन सर्वमिदं धृतम् ॥
दातारं संविभक्तारं मार्दवोपगतं शुचिम् ।
असन्त्यक्त मनुष्यं च तं जनाः कुर्वते नृपम् ॥" (महाभारत)

जो पुरुष राष्ट्र मे सत्पुरुषो की रक्षा कर सके और राष्ट्रविघातक दुष्टों को वश में रख सके उसी पुरुष को राजा बनाना चाहिए। वही राष्ट्र की रक्षा कर सकता है।

" ते देवा अब्रुवन्स प्रजापतिका ।
अयं वै देवान्त माजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमः ।
इम मेवाभिषिञ्चामहा इति ॥" [ऐतरेय ब्राह्मण]

सब विद्वान पुरुषो ने मिलकर निश्चय किया, कि अमुक पुरुष हम सब में सब से अधिक तेजस्वी, बलशाली, सहनशील और सज्जन है, यही हमारा नेता बन सक्ता है। इस लिए इसे ही राजा बनाकर अभिषिक्त करते है।

प्र०—किन व्यक्तियो का जीवननिर्वाह राज्य की तरफ से होना चाहिए ?

उ०—" कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योषिताम् ।
योगक्षेमञ्च वृत्तिश्च नित्यमेव प्रकल्पयेत् ॥
आश्रमेषु यथाकालं चैलभाजनभोजनम् ।
सदैवोपहरेद्राजा सत्कृत्याभ्यर्च्यमान्य च ॥"
पिता हि राजा राष्ट्रस्य प्रजानां योऽनुकम्पनः ।
सम्भावयतिमातेव दीनमप्युपपद्यत ॥" [महाभारत—शान्तिपर्व]

दीन-अनाथ जिनके मातापिता कोई नहीं है, वृद्ध जो कि बुढापे के कारण स्वयम् परिश्रम करने मे अशक्त है, विधवा औरते जिनको पालनेवाले पति मर चुके है, इन श्रेणियों के व्यक्तियों की जीविका तथा उदरपोषण का प्रबन्ध राजा को करना चाहिए। इस के अतिरिक्त आश्रम मे रहनेवाले तपस्वी ब्राह्मणों की श्रेणी तथा ब्रह्मचर्याश्रम के छात्रों का आजीविका का प्रबन्ध भी राजा को करना

चाहिए । जिस प्रकार माता अपने गरीब और नादान संतान का प्रेम से पालन करती है, उसी प्रकार राजा को भी अपने दीन और निराश्रित प्रजा का पालन प्रेमपूर्वक करना चाहिए ।

" कल्पयेत् योगक्षेम अतन्द्रितः । (शान्तिपर्व ७१।११)

धान्यादेः षष्ठांशे हृते शेषेण प्रजानां यदि वार्षिको ग्रासो न भवेत् तदा राजैव तासां योगक्षेमं कल्पयेत् । (टीका)

नियत सरकारी कर लेने के बाद यदि जिस के पास साल भर तक आजीविका होने लायक सामुग्री शेष न रहने पाये तो ऐसे लोगों की आजीविका का प्रबन्ध राज की तरफ से होना चाहिए ।

स्त्रीधर्म ।

प्र०—स्त्रियों का क्या धर्म है ?

उ०—" **यागपरः पुरुषधर्मः, तपः प्रधानो नार्याः ।**" (कर्ममीमांसा)

पुरुषधर्म यज्ञप्रधान है और नारीधर्म तपःप्रधान है ।

सुगृहिणी बन कर अपने पति में तन्मय हो जाना और सुमाता बन कर सत्पुत्र निर्माण करना और अपने पातिव्रत्य, प्रेम, और विनयशीलता आदि गुणों से मनुष्य-जाति को सन्मार्ग में लाना यह स्त्रियों का परमधर्म है ।

प्र०—स्त्रियों को उपनयन और वेदाध्ययन का अधिकार है या नहीं ?

उ० —"**पुराकल्पे कुमारीणां मौंजीबन्धनमिष्यते ।**
अध्यापनं च वेदांना सावित्रीवचनं तथा ॥
पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत्परः ।
स्वगृहे चैव कन्याया भैक्ष्यचर्या विधीयते ॥" (यम-स्मृति)

पुरातन काल से कुमारियों का उपनयन संस्कार करके वेदाध्ययन की प्रथा जारी है। लडकियों को पिता, भ्राता इत्यादि निकटसम्बन्धियों से ही वेदाध्ययनादि की शिक्षा लेना श्रेष्ठ है। और लडकियों के लिए छात्रावस्था में भिक्षा दूसरों के घरसे न मांग कर अपने पालकों पर ही वह भार रखने की प्राचीन काल से रीति चली आई है।

प्र०—प्रत्येक स्त्री को विवाह करना चाहिए या नहीं ?

उ०—"**द्विविधाः स्त्रियो, ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च।**" (महर्षि हारीत)

स्त्रियों का सब से प्रधान कर्तव्य तो यही है, कि वे विवाहित हो कर आदर्श गृहिणी और सुमाता बन कर आत्मोन्नति और समाज का हित करें। तथापि जिनकी इच्छा सर्वथा विवाह करने की न हो और उनमें आजीवन ब्रह्मचर्य पालने की दृढता हो, वे अविवाहित अवस्था में अध्ययन और अध्यापनादि कार्य कर सकती हैं।

प्र०—स्त्रियों को विवाह क्यों करना चाहिए ?

उ०—स्त्री स्वभाव से ही कोमल, भीरु, चंचल, कमजोर और हरएक पर सहज विश्वास करने वाली होती है और इसी से उसके स्वच्छंद और अविवाहित रहने से उसका अधःपात होने की संभावना है। इस लिये उन्हें विवाहित होकर पति के आश्रय में रहना श्रेष्ठ है ?

प्र०—विवाह कब करना चाहिए ?

उ०—स्त्री को १५ वर्ष से १८ वर्ष की उमरमें, चोवीस वर्ष से २८ वर्ष तक के पुरुष के साथ विवाह करना चाहिए। स्त्री के २० वर्ष और पुरुष के ३० वर्ष की अवस्था में विचार परिपक्व हो जाते हैं। इस लिये यदि स्त्री—पुरुष का विवाह विचारों की परिपक्वता होने के बाद किया जाय तो यदि पहिलेसे ही विचार सादृश्य न हो तो उनका जीवन सुख और शान्तिपूर्ण व्यतीत नहीं हो सकता।

प्र०—गृहिणी कैसी हो ?

उ०—"**आसने भोजने दाने सम्माने प्रियभाषणे।**
दक्षया सर्वदा भाव्यं भार्यया गृहमुख्यया॥

अन्यालापमसन्तोषं परव्यापारवर्णनम् ।
अतिहासाऽतिरोषाऽतिकामञ्च परिवर्जयेत्
यच्च भर्ता न पिबति यच्च भर्ता न चेच्छति
यच्च भर्ता न चाऽश्नाति सर्वं तद्वर्जयेत्सती ॥
नोच्चैर्वदेन्न परुषं बहून् पत्युरप्रियम् ।
न केनचिद्विवदेच्च अप्रलापविलापिनी ॥
न चातिव्ययशीला स्यान्न धर्माऽर्थविरोधिनी ।
प्रमादोन्मादरोषेर्ष्यावञ्चनञ्चाऽतिमानिताम् ॥
पैशुन्यहिंसाविद्वेषमदाऽहंकारधूर्तताः ।
नास्तिक्यसाहसस्तेयदम्भान्साध्वी विवर्जयेत् ॥
एवं परिचरन्ती सा पतिं परमदैवतम् ।
यशः शमिह यात्येव परत्र च सलोकताम् ॥ "

आसन, भोजन, दान, सम्मान और प्रिय भाषण में, श्रेष्ठ गृहिणी को सदैव निपुण होना चाहिए। परचर्चा, असन्तोष, अधिक हास्य, रोष और काम, सती स्त्री को त्याग देना चाहिए। जिन वस्तुओं को पति नहीं चाहते हैं या नहीं खाते पीते हैं, उन सब को सती भी त्याग देवे। उच्च स्वर से बात करना, कटु वचन कहना, निकम्मी और पति को बुरी मालुम होनेवाली बातें कहना, विवाद, प्रलाप और विलाप ये सब सती स्त्री को त्याग देना चाहिए। सती गृहिणी अधिक खर्च करनेवाली न होवे, पती के धर्म या अर्थसाधन में बाधक न होवे और प्रमाद, उन्माद, क्रोध, ईर्ष्या, वञ्चना, अभिमान, खलता, हिंसा, विद्वेष, अहंकार, धूर्तता, नास्तिकता, साहस, चोरी और दम्भ इन सब दोषों का त्याग करे। इस प्रकार परम देवता पति की सेवा करने पर सती स्त्री को इहलोक में कीर्ति, कल्याणलाभ और मृत्यु के अनन्तर पतिलोकप्राप्ति होती है।

" संयतोपस्करा दक्षा हृष्टा व्ययपराङ्मुखी ।
कुर्याच्छ्वशुरयोः पादवन्दनं भर्तृतत्परा ॥

अहंकारं विहायाऽथ कामक्रोधौ च सर्वदा ।
मनसो रंजनं पत्युः कार्यं नाऽन्यस्य कस्यचित् ॥ "

सती गृहिणी गृहकी वस्तु सब ठीक ठीक स्थानपर सजाकर रखे, गृहकार्य में दक्ष, सदा सन्तोषिणी और स्वल्प व्यय करनेवाली हो। श्वसुर और सासकी चरणवन्दना करे और सर्वदा पतिपरायणा हो। अहंकार, काम और क्रोध को सर्वथा त्याग कर के एकान्त–रति होकर पति का मनोरंजन करे।

" कार्येषु मंत्री करणेषु दासी, धर्मेषु पत्नी क्षमया धरित्री ।
स्नेहेषु माता शयनेषु रम्भा, रंगे सखी लक्ष्मण ! सा प्रिया मे ॥ "

स्त्री कर्तव्य के विषय में मंत्री के समान, कार्य करने में दासी के समान, धर्मकार्य में अर्धांगिनी, पृथ्वी के समान क्षमाशालिनी, माता के समान स्नेहशीला, सहवास में रम्भा के समान और कौतुक के समय सखीकी तरह आचरण करनेवाली हो। इस प्रकार जो स्त्री पति के साथ रह कर आदर्श संतान पैदा करती है वही साध्वी, पतिव्रता और आदर्श माता कहलाती है।

प्र०—विवाह के बाद दम्पति किस प्रकार रहें ?

उ०—**" कृते विवाहे वर्षैस्तु वास्तव्यं ब्रह्मचारिणा । "** [ब्रह्मपुराण]

" अक्षारलवणाऽऽहारौ भवेतां भूतले तथा ।
शयीयातां समावेशं न कुर्यातां वधूवरौ ॥ " [संस्कारकौस्तुभ]

विवाह होने के बाद बहुत वर्ष तक दम्पति ब्रह्मचर्य धारण करें। क्षारद्रव्य और नमक आदि कामोत्तेजक, पदार्थ न खावें भूमि पर सोवें और जिनसे काम में इच्छा बढ़े ऐसे व्यवहार दम्पति परस्पर न रखें।

प्र०—स्त्रियों को स्वतन्त्र रहना चाहिए या नहीं ?

उ०—स्त्री स्वभाव से ही कोमल, भीरु, चंचल, कमजोर, और दूसरों पर जल्दी विश्वास करनेवाली होने के कारण उसे स्वतंत्र रहने से घोर आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। और स्वतंत्र स्त्रियों की मानसिक चंचलता और दुर्बलता के कारण दुष्टों के सम्पर्क से धर्म, शील, और नीति भ्रष्ट होने की संभावना अधिक रहती है। अतएव स्त्रीयों को,

" पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥
बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥" (मनुस्मृति)

स्त्री को कुमार-अवस्था तक पिता के, विवाह के अनन्तर पति के, वृद्धावस्था या पति न रहने के बाद पुत्र के विचारानुकूल रहना चाहिए ।

प्र०—स्त्री स्वयं अपने पति का चुनाव करे या न करे?

उ०—स्त्री स्वभावसे ही दूसरों पर जल्दी विश्वास करनेवाली और दूसरों के सद्गुणों पर ही पहले निगाह पहुँचानेवाली होने के कारण इस संसार में चालाक और धूर्त आदमियों के फंदे में उसके फँसने की संभावना अधिक रहती है । इस लिए अपने मातापिता और अन्यान्य निकट सम्बधियों की इच्छा पर ही पति के चुनाव का भार रखना चाहिए ।

प्र०—पति मरने के बाद पत्नी को क्या करना चाहिए?

उ०—हिंदू विवाह के अनुसार पतिपत्नीका सम्बन्ध स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से होता है । इस लिये पत्नी पति की मृत्यु के पश्चात् ब्रह्मचारिणी रहकर अपनी तथा अपने पति की आत्मोन्नति करे या पति के साथ सती हो जाय ।

" मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा ।" [विष्णुसंहिता]

पतिवियोग होने पर सती स्त्री ब्रह्मचारिणी रहे अथवा पति के साथ सहमृता हो ।

" या स्त्री मृतं परिष्वज्य दग्धा चेद्धव्यवाहने ।
सा भर्तृलोकमाप्नोति हरिणा कमला यथा ॥" [हारीतसंहिता]

मृत पति के साथ जो स्त्री सहमृता होती है, उसका जिस प्रकार लक्ष्मी हरि के साथ रहती है, उस प्रकार पति के साथ पतिलोक में वास होता है ।

" मृते भर्तरि या नारी समारोहेत् हुताशनम् ।
सा भवेत्तु शुभाचारा स्वर्गलोके महीयते ॥" [दक्षसंहिता]

पति की मृत्यु होने पर जो स्त्री उसका अनुगमन करती है, वह सदाचारसम्पन्ना कहलाती है, और स्वर्ग में देवताओं को भी पूजनीय होती है ।

"व्यालग्राहि यथा व्यालं बिलादुद्धरते बलात् ।
एवमुद्धृत्य भर्तारं तेनैव सह मोदते ॥" [दक्ष और पराशर स्मृति]

साँप पकडनेवाला जिस प्रकार बिल से साँप को बलपूर्वक ऊपर उठा लेता है, उसी प्रकार सती स्त्री अपने पति को अधोगति को प्राप्त होने पर भी उसका उद्धार करके उसके साथ पतिलोक में दिव्य सुख लाभ करती है ।

प्र०—यदि स्त्री पति मरने के बाद इस प्रकार वैराग्ययुक्त जीवन व्यतीत करने में असमर्थ हो तो उसे क्या करना चाहिए ?

उ०—यदि स्त्री इतना उच्च आदर्शमय जीवन व्यतीत करने में असमर्थ हो तो उसे अपना अधःपतन अधिक न होने देने के लिए किसी योग्य विधुर पुरुष से पुनर्विवाह करके अपना जीवन आत्मोन्नती में व्यतीत करे ।

"पत्निनाशे यथापुंसो भर्तृनाशे तथा स्त्रियाः ।
पुनर्विवाहः कर्तव्यः कलावपि युगे जनैः ॥ [व्याघ्रपाद ऋषि]

पुरुषाणामिव स्त्रीणां विवाहा बहवो मताः ।
भर्तृनाशे तथा स्त्रीणां पुंसा पत्निलये यथा ॥" [वैशंपायन]

जिस प्रकार स्त्रियों के मरने पर पुरुषों को दुसरा विवाह करने का अधिकार है उसी प्रकार स्त्रियों को भी पुरुष के मरने पर दुसरे विवाह का अधिकार है ।

प्र०—विधवा स्त्री अपना जीवन किस प्रकार बितावे ?

उ०—"कामन्तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः ।
न तु नामाऽपि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥
आसीताऽऽमरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी ।
यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्तीतमनुत्तमम् ॥
मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता ।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्राऽपि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥" [मनुस्मृति]

पति के मृत्यु के अनन्तर सती स्त्री पुष्प, मूल, और फल खाकर जीवन धारण करे । अपने पति का स्मरण करती हुई ब्रह्मचारिणी के अनुकूल आचरण रखे ।

सती स्त्री की मृत्यु जब तक नहीं हो तब तक क्लेशसहिष्णु, नियमवती और ब्रह्मचारिणी रहकर अपना जीवन आत्मोन्नति में बितावे। पुत्र न होते हुए भी सती स्त्री स्वर्ग को जाती है।

" केशरंजन-ताम्बूल-गन्ध-पुष्पादिसेवनम्।
भूषणं रंगवस्त्रंच कांस्यपात्रेषु भोजनम्॥
द्विवारभोजनं चाऽक्ष्णो रंजनं वर्जयेत्सदा।
स्नात्वा शुक्लाम्बरधरा जितक्रोधा जितेन्द्रिया॥
नकल्पकुहका साध्वी तन्द्राऽऽलस्यविवर्जिता।
सुनिर्मला शुभाऽऽचारा नित्यं सम्पूजयेद्धरिम्॥
क्षितिशायी भवेद्रात्रौ शुचौ देशे कुशोत्तरे।
ध्यानयोगपरा नित्यं सतां संगे व्यवस्थिता॥
तपश्चरणसंयुक्ता यावज्जीवं समाचरेत्।
तावत्तिष्ठेन्निराहारा भवेद्यदि रजस्वला॥" (हारीत संहिता)

केशरञ्जन, पान और गन्ध, पुष्प, आदि सेवन, अलंकार, रंगे वस्त्र, काँसे के बर्तन में भोजन, दो बार भोजन और आँखों में अञ्जनधारण, ये सब विधवा को त्याग करना चाहिए। विधवा स्नान के अनन्तर श्वेत वस्त्र पहना करे, क्रोध और इन्द्रियों को जीते, पाप और छल न करे, तन्द्रा और आलस्य का त्याग करे, निर्मल और शुद्धाचारी होकर भगवान की पूजा करे, पवित्र और कुश बिछाये हुए स्थान में भूमिशय्या पर शयन करे, सर्वदा ध्यान में लीन और सत्संगिनी होवे, तपस्विनी होकर सारा जीवन काटे और रजस्वला होने के समय भोजन का त्याग या अल्पभोजन करे।

प्र०—पतिव्रता स्त्री की महिमा क्या है?

उ०—" एकदृष्टिरेकमना भर्तुर्वचनकारिणी।
तस्या बिभीमहे सर्वे ये तथाऽन्ये तपोधन॥
देवानामपि सा साध्वी पूज्या परमशोभना।
भर्तुर्मुखं प्रपश्यन्ती भर्तुश्चित्तानुसारिणी।
वर्तते च हिते भर्तुर्मृत्युद्वारं न पश्यति॥" (यमस्मृति)

एकदृष्टि और एकचित्त होकर जो स्त्री पति के इच्छानुसार कार्य करती है, उससे महर्षि यम जैसे तपस्वी लोग भी डरते रहते हैं। ऐसी शोभनशीला सती देवताओं की भी पूजनीया होती है। पति की ही मुखापेक्षिणी, उनके ही चित्तके अनुसार चलनेवाली और उनके ही कल्याणकर कार्यों में रता स्त्री को मृत्युलोक में जाना नही पडता है।

" पृथिव्यां यानि तीर्थानि सतिपादेषु तान्यपि।
तेजश्च सर्व देवानां मुनीनां च सतीषु च ॥
दाने फलं यद्दातृणां तत्सर्वं तासु सन्ततम्।
स्वयं नारायणः शंभुर्विधाता जगतामपि ॥
सुराः सर्वे सुमुनयो भीतस्ताभ्यश्च सन्ततम्।
सतीनां पादरजसां सद्यःपूता वसुन्धरा ॥
पतिव्रतां नमस्कृत्य मुच्यते पातकान्नरः।" (ब्रह्मवैवर्त पुराण)

पृथ्वि पर जितने तीर्थ हैं, वे सभी सतीस्त्रीयों के चरणों में वर्तमान रहते हैं। सब देवताओं का तेज, ऋषीयों का तपोबल, योगियों का योगबल, तथा सर्वस्व दान करनेवालों का दानबल सतीस्त्री मे विराजमान है। स्वयं नारायण, ब्रह्मा, महेश आदि देवगण सती स्त्री से डरते हैं। सती स्त्री के चरणों की धूली से पृथ्वि पवित्र होती है। पतिव्रता स्त्री को प्रणाम करके मनुष्य सब पापों से मुक्त होता है।

" क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यौ मूलकारणम्।"

पतिव्रता स्त्री हि सारे धर्मकार्यों का मूलकारण है।

चतुर्थ अध्याय ।

उपासना ।

(भक्ति और योग ।)

प्रश्न---उपासना किसे कहते हैं ?

उत्तर—(उप—नजदीक, आस—बैठना, परमात्मा के पास बैठना) अर्थात् परमात्मा से निज का एकत्व अनुभव करने की क्रियाको उपासना कहते हैं ।

" आत्मेत्येवोपासीत, तदात्मानमेवावेत्, तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ "

परमात्मा की उपासना करनी चाहिए, उनको प्रसन्न करना चाहिए; उन्हीं के स्वरूप को जानने से जीव मृत्युराज्यरूपी संसार को अतिक्रमण कर सक्ता है, संसार से निष्कृति लाभ करने के लिए और दूसरा कोई उपाय नहीं है ।

प्र०—उपासना कब और कितनी बार करनी चाहिए ?

उ०—**" यदद्य सूर उदिते यन्मध्यं दिन आतुचि ।**
वामं धत्थ मनवे विश्ववेदसो जुह्वानाय प्रचेतसे ॥ "

[ऋ. ८-२७-२१]

उपासना—प्रभात, मध्याह्न और संध्या के समय तीन बार करनी चाहिए ।

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा ।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ॥ "

(अथर्व वेद ११-२-१६)

कहीं २ उपासना चार बार भी करने के लिए लिखा है—प्रभात, मध्याह्न, संध्या और रात्रि ।

प्र०—उपासना कहाँ करनी चाहिए ?

उ०—" **उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् ।**
धिया विप्रो अजायत ॥ " [यजुर्वेद २६-१५]

रमणीय उद्यान, मनोहर तालाव, प्रशस्त और सुंदर वाटिका, या किसी भी पवित्र, साफ और एकांत स्थान में बैठकर उपासना करनी चाहिए ।

प्र०—उपासना करने के पेश्तर क्या स्नान आदि करना अनिवार्य है ?

उ०—" **अस्नातो वा कृतस्नानो भुक्तो वापि बुभुक्षितः ।**
पूजयेत् परमात्मानं सदा निर्मलमानसः ॥ "
[महानि. तंत्र ३-७८]

स्नान आदि का प्रयोजन मन को एकाग्रता में सहायता पहुँचाने के लिए है । स्नान किया हो या न किया हो, भोजन किया हो या न किया हो, शुद्ध हृदय से उपासना करने के लिए कभी भी हरकत नहीं ।

प्र०—उपासना के समय विधिनियमादि पालन करने की विशेष आवश्यकता है या नहीं ?

उ०—" **पूजने परमेशस्य नावाहनविसर्जने ।**
सर्वत्र सर्वकालेषु साधयेद्ब्रह्मसाधनम् ॥ " [महानि. तंत्र]

सब विधि और नियमों का उद्देश्य भावना दृढ करना और मन की एकाग्रता करना ही है । मन की एकाग्रता होने पर आवाहनविसर्जन इत्यादि विधि नियमादि पालने को आवश्यकता ही है, यह बात नहीं । किसी भी स्थान में और किसी भी समय में उपासना करने में कोई हानि नहीं ।

प्र०—उपासना करने के लिए किन बातों की विशेष आवश्यकता है ?

उ०—" **संकल्पेऽस्मिन् महामन्त्रमानसः परिकीर्तितः ।**
साधने ब्रह्ममंत्रस्य भावशुद्धिर्विधीयते ॥ "
[महानि. तंत्र ३।१२०]

शुद्ध अन्तःकरण और मन की एकाग्रता इन दों बातों की उपासना के लिए परम आवश्यकता है ।

प्र०—सब प्राणिमात्र पर जिसका प्रेमभाव नहीं है यदि वह उपासना करे तो क्या फल होता है ?

उ०—"अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥" [कपिल गीता]

सब प्राणिमात्र के अंतरंग में मैं निवास करता हूँ, यह न पहचान कर जो मेरी उपासना करता है, वह सब निरर्थक है । जो सब प्राणिमात्र से मुझे अलग समझ कर उनसे वैर करता है, उसे उपासना करने पर भी शान्ति नहीं मिलती ।

प्र०—उपासना के कितने भेद हैं ?

उ०—उपासना के भक्ति और योग ऐसे दो भेद हैं । भक्ति उपासना का प्राण और योग उपासना का शरीर है । चित्त में भगवान के प्रति जिस अनुराग के उदय होने पर भक्त भगवान् का सानिध्य लाभ कर सकता है उसे भक्ति कहते हैं; और जिन सब शारीरिक और मानसिक क्रियाओं के अनुष्ठान से चित्त शान्त होकर आत्मा के स्वरूप को देख सक्ता है उसे योग कहते हैं । इस लिए उपासना की उन्नति और पूर्णता-प्राप्ति के अर्थ प्राणरूपी भक्ति और शरीर-रूपी योग की परम आवश्यकता है ।

भ[क्ति] उपासना का प्राणरूप है, इसका भाव यह है, कि जिस प्रकार शरीर में प्रा[ण] प्रार्थना के न रहने से जीवका जीना और बढ़ना असम्भव है, उसी प्रकार से उ[पासना] ऐग ना के साथ भक्ति के न रहने से साधक की उपासनामार्ग में स्थिति और उन्नति नहीं होती ।

प्र०—भक्ति किसे कहते हैं ?

उ०—"द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्पवृत्ति-र्भक्तिरिति ।" (मधुसूदन सरस्वती)

भगवद्भाव से द्रव होकर भगवान् के साथ चित्त का जो सविकल्प तदाकार-भाव है, वही भक्ति का लक्षण है ।

"सा तस्मिन्परमप्रेमरूपा" "अमृतस्वरूपा च ॥" (नारद-भक्तिसूत्र)

परमेश्वर के प्रति परमप्रेम को ही भक्ति कहते हैं ।

"सा परानुरक्तिरीश्वरे" "तत्संस्थस्यामृतत्त्वोपदेशात्" ।

[शाण्डिल्य सूत्र]

ईश्वर के प्रति परम अनुराग को ही भक्ति कहते हैं क्योंकि उनके प्रति प्रेम होनेसे ही जीव अमृतमय हो जाता है ।

"सानुरागरूपा" "स्नेहप्रेमश्रद्धातिरेकादलौकिकेष्वनुरागरूपा ।"

(दैवीमीमांसा)

भक्ति भगवान् के प्रति अनुरागरूप है । लौकिक अनुराग तीन प्रकार के हैं—स्नेह, प्रेम तथा श्रद्धा। अपने से छोटों में अनुराग को स्नेह, समान में अनुराग को प्रेम, और श्रेष्ठों में अनुराग को श्रद्धा कहते है । ये सब अनुराग लौकिक हैं, नाशमान और क्षणभंगुर हैं । इस लिए जीव का अनुराग अनित्य संसार से उठकर नित्य आनंदमय भगवान् के चरणकमलों में जब लग जाता है, तब उसे भक्ति कहते हैं।

"तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ।"

(नारद—भक्तिसूत्र १९)

अपना सर्वस्व भगवान् को अर्पण करना और उसका विस्मरण क्षणभर भी होने पर व्याकुल होना, इस मानसिक स्थिति को भक्ति कहते हैं ।

प्र०—भक्ति के कितने प्रकार हैं ?

उ०—भक्ति के तीन भेद हैं—वैधी, रागात्मिका और परा ।

वैधी भक्ति ।

प्र०—वैधी भक्ति किसे कहते हैं ?

उ०—वैधी भक्ति प्रथम दशा की भक्ति है और यह नौ अंगों में विभक्त है—

" श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ "

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन ये वैधी भक्ति के नौ अंग हैं । वैधी भक्ति में प्रतीक–उपासना अर्थात् सगुणभक्ति की ही प्रधानता है ।

प्र० —सगुण व्यक्त मूर्ति की उपासना ठीक है या निर्गुण अव्यक्त की उपासना ठीक है ?

उ०—" **क्लेशोऽधिकरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।**
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते [गी. अ. १२]

अव्यक्त की उपासना करना साधारण मनुष्य के लिए कठिन है, अतएव सगुण-मूर्ति की ही उपासना करके आत्मोन्नति करना साधारण मनुष्य को उचित है ।

प्र०—क्या हिन्दू धर्म में मूर्तिपूजा सर्वश्रेष्ठ मानी गई है ?

उ०—" **उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः ।**
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो, बहिःपूजाऽधमाऽधमा ॥" (ना. पंच. तंत्र)

हिन्दू धर्म में सब चराचर वस्तु में परमात्मा का अनुभव प्राप्त कर लेना यह सब से उच्च कोटि की उपासना है, परमात्मा का मानसिक ध्यान करना यह मध्यम कोटि की उपासना है, और परमात्मा की स्तुति और जप इत्यादि करना जघन्य कोटि की उपासना है ।

" बालक्रीडनवत् सर्वं, रूपनामादिकल्पनम् ।
विहाय ब्रह्मनिष्ठो यः, स मुक्तो नात्र संशयः ॥" [महानि. तंत्र]

प्रार्थना, जप–जाप्य, प्रतीक इत्यादि सब बातें बालकों के मनोरंजन की सामग्री हैं, ऐसा मानकर जो अद्वैत ब्रह्म की उपासना करता है, वह मुक्त है इस में संशय नहीं ।

प्र०—प्रतीक—उपासना कबतक करनी चाहिए ?

उ०—" ज्ञानान्तरानन्तरिव सजातिज्ञानसंहतेः ।
संपन्नदेवतात्मत्वमुपासनमुदीरितम् ॥ "

प्रतीक-उपासना तब तक करनी चाहिए, जबतक कि सगुण उपास्य का ध्यान करते समय दूसरी बातों से मन चंचल न होकर उपास्य और उपासक में अभेदता [एकत्व] प्राप्त होने लगे ।

" यावदान्तरपूजायामधिकारो भवेन्न हि ।
तावद्बाह्यामिमां पूजां श्रयेज्जाते तु तां त्यजेत् ॥ " [देवीगीता]

जबतक अन्तरंग—उपासना का अधिकार नहीं होता, तब तक बाह्य उपासना का आश्रय करना चाहिए । अंतरंग—उपासना में अधिकार प्राप्त कर लेने पर सगुणरूप बाह्य उपासना का त्याग कर देना चाहिए ।

प्र०—सगुण मूर्ति की उपासना किस भाव से करनी चाहिए ?

उ०—" ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् । " [ब्रह्ममीमांसा दर्शन]

सगुण मूर्ति की उपासना करते समय प्रतीक में ब्रह्म की भावना करनी चाहिए ।

प्र०—मूर्ति की आराधना और ध्यान करने से परमेश्वर की कृपा कैसे प्राप्त हो सकती है ?

उ०—" गवां सर्वांगजक्षीरं स्रवेद् स्तनमुखाद् यथा ।
तथा सर्वगतो देवः प्रतिमादिषु राजते ॥
अभिरूप्याच्च बिम्बस्य पूजायाश्च विशेषतः ।
साधकस्य च विश्वासाद् देवतासन्निधिर्भवेत् ॥ " (कुलार्णवतंत्र)

गाय के सब शरीर में अदृश्य रूप से रहने वाला दूध जिस प्रकार स्तनमें से बाहर निकलता है, उसी प्रकार सब चराचर वस्तु में प्रतिष्ठित हुआ परमात्मा भक्त की आराधना से प्रतिमा में दृश्य रूप से प्रकट होता है ।

प्र०—किसी विशेष प्रकार की मूर्ति की ही उपासना करने का आग्रह है या चाहे जिस मूर्ति की उपासना करे ?

उ०—" यथाभिमतध्यानाद् वा । "

" यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत् तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभते । " (तन्त्र)

साधक को जो प्रिय और आनंददायक हो ऐसी ही मूर्ति का ध्यान करना चाहिए। किसी भी एक वस्तु में मन की एकाग्रता होने लगे तो फिर अन्य जगह पर मन की एकाग्रता होने में देर नहीं लगती।

रागात्मिका भक्ति।

प्र०—रागात्मिका भक्ति किसे कहते हैं ?

उ०—**"रसानुभाविकाऽऽनन्दशान्तिदा रागात्मिका ।"** [दैवीमीमांसा]

भक्ति के जिस भाव से श्रीभगवान् के प्रति अपूर्व रस अर्थात् प्रेम का अनुभव होता है और जिस भाव से भक्त के हृदय में आनन्द तथा शान्ति का उदय होता है उसीका नाम रागात्मिका भक्ति है।

प्र०—भक्ति की रागात्मिका दशा में साधक के मन की स्थिति कैसी रहती है ?

उ०—**"यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो भवति ।**
यत्प्राप्य न किंचिद्वांछति न शोचति न द्वेष्टि
न रमते नोत्साही भवति ॥" [नारद-भक्ति-सूत्र]

"यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति ।"

जिसे परमात्मा के साथ तल्लीनता के अनुभव का आनन्द मिला हो, वह कृतकृत्य होता है, तृप्त होता है और परमात्मा के सिवाय वह किसी बात की इच्छा हृदय में नहीं रखता। उसे किसी बात का रज नहीं रहता, द्वेष नहीं रहता, और न वह लौकिक विषयों में रमता है। वह पारमात्मिक आनंद का उपभोग लेकर उन्मत्त होता है, शान्त रहता है और अपने में ही आनन्दपूर्वक मस्त रहता है।

"तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति ।" [नारद-भक्ति-सूत्र]

जिसको परमात्मा के प्रेम का अनुभव प्राप्त हुआ है, वह उसीको निरंतर देखता है, उसीको सुनने की अभिलाषा रखता है और उसीका चिंतन करता रहता है।

उसे परमात्मा के प्रेम के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं देता, उसे कोई भी दूसरी बात सुनाई नहीं देती, उसके अतिरिक्त वह मुँहसे दूसरी बात भी नहीं कहता। और दूसरी बातों का चिंतन भी नहीं करता। वह परमात्मा के अंतर्बाह्य प्रेम में मस्त रहता है।

प्र०—रागात्मिक भक्ति कितने प्रकार से की जाती है?

उ०—दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, परमविरहासक्ति, इत्यादि रागात्मिका भक्ति के प्रकार हैं। प्रत्येक पुरुष के हृदय में जो २ विकार प्रधान रूपसे हैं, जिन जिनके द्वारा उसकी अवनति होती है, उन उन विकारों को परमात्मा में लगाने से उसकी आत्मोन्नति होती है। मनुष्य अपनी आयु परमात्मा की भक्ति में सेव्यसेवकभाव से, मित्रभाव से, पति-पत्नीभाव से, वात्सल्यभाव से और जारजारिणी इत्यादि भाव से अर्पण करे।

"तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्॥" [नारद-भक्ति-सूत्र]

रागात्मिका भक्ति में भक्त अपने अन्यान्य कामक्रोधादि विकार भी परमात्मा को ही सौंप देवे।

वैधी भक्ति की पूर्णता होने के उपरान्त रागात्मिका भक्ति का उदय होता है और रागात्मिका भक्ति की पूर्णता होने से भक्त भावसमुद्र में परमात्मा के साथ निमग्न होकर आनन्दमय भगवान् के साथ तद्रूप हो जाता है। इस के बाद परा भक्ति का उदय होता है।

परा भक्ति।

प्र०—परा भक्ति किसे कहते हैं?

उ०—**"आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च"॥** [ब्रह्मसूत्र]

ब्रह्म में एकत्व का अनुभव करना परा भक्ति है। रागात्मिका भक्ति के बाद परा भक्ति का उदय होता है। जैसे कि रासक्रीडा के बाद गोपी खुद को श्रीकृष्ण समझने लगी और उन्हें सब चराचर वस्तु में श्रीकृष्ण ही दृश्यमान होने लगा।

अर्थात् दृश्य और अदृश्य जगत् में अनेक प्रकार के भेदयुक्त मानसिक भाव नष्ट होने के अनन्तर सर्वत्र ब्रह्मानुभूति होने को ही परा भक्ति कहते हैं। उस समय उपास्य और उपासक में भेदभाव नहीं रहता और न ध्याता, ध्यान और ध्येय में ही भेद रहता है। उस समय भक्त अभेदरूप से निर्विकल्प समाधि के द्वारा ब्रह्मभाव में लीन रहता है।

प्र०—परा भक्ति में भक्त की हालत कैसी रहती है?

उ०—"**सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।**
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥" (गीता)

परा भक्ति के समय भक्त सब जगत् को अपने में और अपने को सब जगत् में देखता है।

"**परानुरक्त्या मामेव चिन्तयेद् यो ह्यतन्द्रितः।**
स्वाभेदेनैव मां नित्यं जानाति न भेदतः॥
अहंकारादिरहितो देहतादात्म्यवर्जितः।
इति भक्तिस्तु या प्रोक्ता परा भक्तिस्तु सा स्मृता॥
यस्यां देव्यतिरिक्तन्तु न किञ्चिदपि भाव्यते।
इत्थं जाता परा भक्तिर्यस्य भूधरतत्त्वतः॥
तदैव तस्य चिन्मात्रे सद्रूपे विलयो भवेत्।
भक्तेस्तु या पराकाष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्तितम्॥
वैराग्यस्य च सीमा सा ज्ञानं तदुभयं यतः।" (देवी भागवत)

परानुरक्ति के साथ अभिन्नभाव से भगवत्–चिन्ता–परायण होकर साधन करने से परा भक्ति का उदय होता है। जिस में अहंकारनाश तथा सर्वत्र विराजमान अद्वितीय ब्रह्मसत्ता का अनुभव होने लगता है, इस प्रकार पराभक्ति को प्राप्त करके साधक चिन्मय भगवान् में लीन हो जाता है। यही ज्ञान की परमसीमा और यही वैराग्य की भी परमसीमा है। उस समय उनकी प्रकृति विराट् प्रकृति में और उनकी आत्मा व्यापक परमात्मा में मिलकर एक हो जाती है।

" यथा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ "

[उपनिषद्]

जिस प्रकार समुद्रवाहिनी नदी नामरूप से च्युत होकर समुद्र में मिल जाती है, उसकी पृथक् सत्ता नहीं रहती, उसी प्रकार ज्ञानी भक्त प्रकृतिजनित नाम और रूप को त्याग कर विदेहमुक्त दशा में परात्पर परब्रह्म में अपनी पृथक् सत्ता को भूलकर विलीन हो जाते हैं। उनके लिये संसार में जन्म—मरण—चक्र चिर-काल के लियें बंद हो जाता है। अनन्त दुःखमय संसार में उनको फिर नहीं आना पडता। यही सकल साधनों का लक्ष्य और भक्ति—मार्ग का चरम परिणाम है।

योग।

प्र०—योग किसे कहते हैं ?

उ०—" **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।**
" **तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।** " (पातंजलयोगसूत्र)

चित्तवृत्ति का निरोध करके आत्मसाक्षात्कार तथा श्रीभगवान् का सानिध्य—लाभ करने को योग करते हैं।

" **परजीवात्मनोरेव मेलनं योग उच्यते ।** "

जिस साधन से जीवात्मा और परमात्मा का एकीकरण होकर स्व-स्वरूपकी प्राप्ति होती है, उसको योग कहते हैं।

प्र०—योग के मुख्यतया कितने भेद हैं ?

उ०—" **योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः ।**
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः ॥ " (योगतत्वोपनिषद्)

योग के क्रियासिद्ध अंश चार भागों में विभक्त होते हैं। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। इन चारों में से अधिकार—विचारानुसार किसी भी योग का अवलम्बन करने से निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है।

मंत्रयोग ।

प्र०—मंत्रयोग किसे कहते हैं ?

उ०—" नामरूपात्मनोः शब्दभावयोरवलम्बनात् ।
यो योगः साध्यते सोऽयं मंत्रयोगः प्रकीर्तितः ॥ "
[मंत्रायोगसंहिता]

नाममय शब्द और भावमय रूप के अवलम्बन से जो योगसाधन किया जाय उस को मंत्रयोग कहते हैं।

प्र०—मंत्रायोग का प्रतिपाद्य विषय क्या है ?

उ०—" नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात् ।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः ॥
तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते ।
उत्तिष्ठति जनः सर्वोऽध्यक्षेणैतत्समीक्ष्यते ॥
नामरूपात्मकैर्भावैर्बध्यन्ते निखिला जनाः ।
अविद्याग्रसिताश्चैव तादृक् प्रकृतिवैभवात् ॥
आत्मनः सूक्ष्मप्रकृतिं प्रवृत्तिं चाऽनुसृत्य वै । " (मंत्रायोगसंहिता)

समस्त दृश्य जगत् भाव का ही विकासमात्र है। भाव का परिणाम नामरूपात्मक यह दृश्य संसार है। प्रत्येक भाव ही नाम और रूप के द्वारा संसार में प्रकट होता है। सृष्टि नामरूपात्मक होने के कारण, नामरूप के अवलम्बन से ही साधक सृष्टि के बन्धन से मुक्त होकर मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। जिस भूमि पर मनुष्य गिरता है, उसी भूमि के अवलम्बन से पुनः उठ सकता है।

मनुष्य भावों का दास है। भावशून्य होकर मनुष्य का अंतःकरण एक मुहूर्त भी स्थिर नहीं रह सकता। भावशुद्धि के द्वारा असत्कार्य भी सत् हो जाता है और भावमालिन्य के कारण सत्कार्य भी असत् हो जाता है। अविद्याग्रस्त मनुष्यों के चित्त में वैषयिक भावना प्रधान होने के कारण वे सदा ही अपने २ भावों के अनुकुल सांसारिक (लौकिक) रूप और नाम में फँसे रहते हैं। अतः

उन के चित्त से लौकिक भावों को दूर करके दिव्य भावों का उदय करने के लिए लौकिक नाम तथा रूप के बदले दिव्य नाम तथा दिव्य रूपों की साधनविधि के अवलम्बन द्वारा आत्मोन्नति करना मंत्रयोग का विषय है ।

प्र०—मंत्रयोग में किसका ध्यान करना आवश्यक समझा गया है ?

उ०—मंत्रयोग में भावमय स्थूल मूर्तिका ध्यान बतलाया है ।

प्र०—मंत्रयोग की समाधि को क्या कहते हैं ?

उ०—" **समाधिर्मन्त्रयोगस्य महाभाव इतीरितः ।**" (हठयोगसंहिता)

मंत्रयोग से प्राप्त होनेवाली समाधि को महाभाव समाधि कहते हैं ।

प्र०—मंत्र किसे कहते है ?

उ०—" **मननं विश्वविज्ञानं त्राणं संसारबन्धनात् ।**
यतः करोति संसिद्धौ मंत्र इत्युच्यते ॥ " (पिंगलतंत्र)

जिसके द्वारा विश्वज्ञान प्राप्त हो और संसार के बन्धनों से मुक्त हो उसे मंत्र कहते हैं ।

" **मननात् त्रायते यस्मात्तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्तितः ।**
जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः ॥ "
(मंत्रयोगसंहिता)

जिसका मनन करने से आत्मोन्नति होती है, उसे मंत्र कहते हैं । मंत्र की सिद्धि जप करने से ही होती है ।

प्र०—मंत्र में क्या सामर्थ्य है ?

उ०—" **कार्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत्स्पन्देन सव्यापकम् ।**
स्पन्दश्चापि तथा जगत्सु विदितः शब्दान्वयी सर्वदा ॥
शब्दश्चापि तथादिप्रकृतिविशेषत्वाद् भूस्पन्दिनी । "
[मंत्रयोगसंहिता]

जहाँ कुछ कार्य है, वहाँ कम्पन अवश्य होगा । जहाँ कम्पन है वहाँ शब्द भी अवश्य होगा । सृष्टिक्रिया भी एक प्रकार का कार्य है, इस लिए इस के साथ स्पन्दन और स्पन्दन के साथ शब्द भी अवश्य होता है । अतयव स्पन्दन और

शब्दका अन्योन्यसम्बन्ध सिद्ध होता है। जिस प्रकार के स्पन्दन से जो शब्द (ध्वनि) पैदा होता है, उसी प्रकार के शब्द से उसी प्रकार का स्पन्दन (कम्पन) होना अनिवार्य है।

समस्त स्पन्दनरूप सृष्टिक्रिया के भिन्न २ समूह की भिन्न २ अधिष्ठात्री देवता मानी जाती है। शुभ कार्य की शुभ और अशुभ कार्य को अशुभ देवता हैं। जिस देवता के कार्यसमूह की कम्पनक्रिया द्वारा प्रकट हुए शब्दसमूह से जो मंत्र बनता है उस मंत्र के नाद से उस क्रियासमूह का कम्पन होकर उसकी अधिष्ठात्री देवता वशीभूत होती है। अर्थात् मंत्रशक्ति के बल से देवजगत् पर प्रभाव डालकर उस उस प्रकृति की अधिनायक देवता को इस प्रकार मंत्रद्वारा वशीभूत किया जा सकता है, और उसी प्रकार आसुरी प्रकृति पर विराजमान पिशाच, दैत्य, भूत, प्रेत, डाकिनी और शाकिनी आदि तामसिक शक्तियाँ भी वशीभूत हो सकती हैं। इसी प्रकार विविध प्रकार की अस्त्रयंत्रादि सिद्धि भी इस से प्राप्त हो सकती हैं। प्रत्येक मंत्र की सिद्धि साध्यवस्तु पर भावशक्ति केन्द्रीभूत होनें से होती है। जिस साधक के अन्तःकरण में भावशक्ति तथा प्राणशक्ति की जितनी प्रबलता होगी, उसी के अनुसार मंत्रों के द्वारा अस्त्रप्रयोग, मंत्रसाधन-द्वारा आसुरी शक्ति तथा देवताओं का वशीकरण और श्रीभगवान् तक की प्रसन्नताप्राप्ति में उतनी सफलता होगी।

प्र०—प्रणव का मंत्र के साथ क्या सम्बन्ध है?

उ०—"**मन्त्राणां प्रणवः सेतुः।**"

प्रणव मंत्रों का सेतु है अर्थात् जिस प्रकार सेतु (पुल) के आश्रय से नदी पार कर सकते है, उसी प्रकार प्रत्येक मंत्र के साथ ॐकार को मिलाकर उच्चारण करने से मंत्र अपनी व्यापक शक्ति को प्राप्त कर सकता है।

"माङ्गल्यं पावनं धर्म्यं सर्वकामप्रसाधनम्।
ओंकारः परमं ब्रह्म सर्वमंत्रेषु नायकम्॥
आद्यमंत्रोऽक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन् प्रतिष्ठिता।
सर्वमंत्रप्रयोगेषु ओमित्यादौ प्रयुज्यते॥

तेन संपरिपूर्णानि यथोक्तानि भवन्ति हि ।
सर्वमंत्राधियज्ञेन ओंकारेण न संशयः ॥" [स्मृति]

परब्रह्मस्वरूप ओंकार समस्त मंत्रों का नायक, परम पवित्र, मंगलमय तथा सकल कामनाओं का साधक है । तीनों वेदों की प्रतिष्ठा इसी आदि मंत्र में है और सब मंत्रों के प्रयोग में ओंकार का प्रयोग प्रथम होता है । अन्य मंत्रों के साथ प्रथम ओंकार का उच्चार होने से मंत्रों का फल यथावत् प्राप्त होता है ।

प्र०—किस मंत्र का जप करना चाहिए ?

उ०—अपने गुरु से प्राप्त हुए मंत्रों को विधिपूर्वक जपना चाहिए ।

प्र०—मंत्रयोग की साधनप्रणाली कितने अंगों में विभक्त है ?

उ०—" भक्तिः शुद्धिश्चासनं च पंचांगस्यापि सेवनम् ।
आचारधारणे दिव्यदेशसेवनमित्यपि ॥
प्राणक्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं बलिः ।
योगो जपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडश ॥"

भक्ति, शुद्धि, आसन, पंचांगसेवन, आचार, धारणा, दिव्य-देश-सेवन, प्राण-क्रिया, मुद्रा, तर्पण, हवन, बलि, याग, जप, ध्यान और समाधि इन सोलह अंगों में मंत्रयोग विभक्त है ।

प्र०—भक्ति किसे कहते हैं ?

उ०—भक्ति के तीन भेद हैं—वैधी, रागात्मिका और परा । (इस का वर्णन भक्ति में हो चुका है ।)

प्र०—शुद्धि किसे कहते हैं ?

उ०—शुद्धि के शरीर, मन, दिक् और स्थान-भेद से चार भेद हैं । वे ही स्थान-शुद्धि, दिक्-शुद्धि, काय-शुद्धि और अभ्यंतर-शुद्धि कहे जाते हैं ।

प्र०—दिक्-शुद्धि किसे कहते हैं ?

उ०—" आसीनः प्राङ्मुखो नित्यं जपं कुर्याद् यथाविधि ।
रात्रावुदङ्मुखः कुर्याद् दैवकार्यं सदैव हि ॥
दिक् शुद्ध्या साधकः सिद्धिं साधने लभतेऽञ्जसा ।
मनश्च वश्यतां यातीत्यतः कार्या प्रयत्नतः ॥" (योगसंहिता)

पूर्वमुख या उत्तरमुख बैठकर नित्य यथाविधि जप करना चाहिए। और रात्रि को उत्तरमुख बैठ कर देवकार्य करना चाहिए। दिक्शुद्धि द्वारा साधक को साधन में सिद्धि की प्राप्ति होती है और साधक का मन वशीभूत होता है।

प्र०—कायशुद्धि किसे कहते हैं ?

उ०—साधनक्रिया के लिए मनुष्य को स्नान सबसे प्रथम करना चाहिए। स्नान सात प्रकार का है।

> " अपोहिष्ठादिभिर्मंत्रं भौमं देहप्रमार्जनम् ।
> आग्नेयं भस्मना स्नानं वायव्यं गोरजःस्मृतम् ॥
> यत्तदातपवर्षेण स्नानं दिव्यमिहोच्यते ।
> वारुणं चावगाहः स्यान्मानसं विष्णुचिन्तनम् ॥ " (योगसंहिता)

मंत्र, भौम, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण और मानस ये स्नान के सात भेद हैं। आपत्ति के समय जल से स्नान आदि करने में बाधा होने पर मानसस्नान (अनन्त सूर्य के समान प्रभायुक्त परमात्मा का ध्यान) इत्यादि करने से भी काय शुद्धि हो सकती है।

प्र०—स्नान-शुद्धि किसे कहते हैं ?

उ०—" पञ्चशाखायुतो देशस्तथा सिद्धिप्रदायकः ।
> गोशाला वै गुरोर्गेहं देवायतनकाननम् ॥
> पुण्यक्षेत्रं नदीतीरं सदापूतं प्रकीर्तितम् । " [योगसंहिता]

पंच-शाखा-युक्त स्थान अर्थात् अश्वत्थ, वट, बिल्व, आमलकी और अशोक इन पांच वृक्षों से युक्त पंचवटी के नीचे का स्थान तथा गोशाला, गुरुगृह, मंदिर, वनस्थान, तीर्थादि पुण्यक्षेत्र ये सब पवित्र और योग-साधन के लिए अच्छे स्थान समझे जाते हैं।

प्र०—अन्तःशुद्धि किसे कहते हैं ?

उ०—" अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
> दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
> अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
> दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ "

गीता में दैवी संपत्ति के उपरिनिर्दिष्ट जो लक्षण कहे गये हैं उनके अवलम्बन से अंतःकरण निर्मल हुआ करता है।

प्र०—मंत्रयोग-साधन के लिए कौन से आसन उपयुक्त हैं।

उ०—स्वस्तिकासन और पद्मासन ये दो आसन प्रधान बतलाये गये हैं।

प्र०—पंचांग-सेवन किसे कहते हैं ?

उ०—**" गीता सहस्रनामानि स्तवः कवचमेव च।**
हृदयं चेति पञ्चैते पञ्चांगं प्रोच्यते बुधैः ॥ "

उपरोक्त रीति से बाह्य और अन्तः शुद्धि प्राप्त कर लेने के बाद मन की उमंग बढ़ाने के लिए पञ्चांगसेवन अर्थात् कोई भी प्रिय स्तुतिमय पद्य, स्तोत्र इत्यादि मधुर वाणी से पढ़ना चाहिए। ऐसा करने से मन की उमंग बढ़कर योगाभ्यास में मन लवलीन हो जाता है। इसके बाद मंत्र का जप करना चाहिए।

प्र०—जप किस प्रकार करे ?

उ०—अपने गुरु से प्राप्त किये मंत्र को पूर्वोक्त अन्तर्बाह्य शुद्धता प्राप्त करके मन की चित्तवृत्ति को मंत्र की देवता में लगा कर नियमितरूप से पढ़े। परमात्मा में मन लगा कर जप करने से परमात्मा प्रसन्न होता है और इससे भक्त को मुक्ति मिलती है; या जप करते २ मन, मंत्र और देवता (ध्याता, ध्यान, और ध्येय) एक दूसरे में लीन होकर समाधि का उदय होता है। समाधि प्राप्त होने पर साधक कृतकृत्य हो जाता है। यही मंत्रयोग का चरम लक्ष्य है।

हठयोग।

प्र०—हठयोग किसे कहते हैं ?

उ०—स्थूल शरीर का सूक्ष्म शरीर के साथ अन्योन्य सम्बन्ध है। हठयोग में साधक पहले स्थूल शरीर को अनेक प्रकार की क्रियाओं द्वारा पूर्णतया आधीन करके क्रमशः उस शक्ति को अन्तर्मुख करके सूक्ष्म शरीर को वश में लाकर चित्त-वृत्ति-निरोध के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। इसी योग-प्रणाली को हठयोग कहते हैं।

" हठाच्चेतसो जयम् " " हठेन लभते शान्तिः "

हठयोग के द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध और शान्तिलाभ होता हैं ।

प्र०—हठयोग में किसका ध्यान करना पडता है ?

उ०—हठयोग में परमात्मा को ज्योतिःस्वरूप जानकर ज्योतिर्ध्यान करने की विधि है ।

प्र०—हठयोग में मन का निरोध किस प्रकार किया जाता है ?

उ०—हठयोग में वायु-निरोध के द्वारा मन का निरोध किया जाता है ।

प्र०—हठयोग की समाधि को क्या कहते हैं ?

उ०—हठयोग की समाधि को महाबोध समाधि कहते हैं ।

प्र०—हठयोग के कितने अंग हैं ?

उ०—" षट्कर्मासनमुद्राः प्रत्याहारश्च प्राणसंयमः ।
ध्यानसमाधी सप्तैवांगानि स्युर्हठस्य योगस्य ॥ "

षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि, हठयोग के ये सात अंग हैं ।

प्र०—इनके साधनद्वारा क्या फल प्राप्त होते हैं ?

उ०—" षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढम् ।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता ॥
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्ष मात्मनः ।
समाधिना निर्लिप्तं च मुक्तिरेव न संशयः ॥ "

षट्कर्मद्वारा शरीर-शोधन, आसन के द्वारा दृढता, मुद्राद्वारा स्थिरता, प्रत्याहार से धीरता, प्राणायामसाधनद्वारा लाघव, ध्यानद्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष और समाधिद्वारा मुक्तिलाभ होता है ।

प्र०—षट्कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—" धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिर्लौलिकी त्राटकं तथा ।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत् ॥ "

धौति, बस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक तथा कपालभाति षट्कर्म के ये छह साधन हैं। इन षट्कर्मों के साधन से शरीर निरोगी और पुष्ट हो जाता है तथा जरा और मरण से भी अतीत हो सक्ता है।

प्र०—धौति किसे कहते हैं ?

उ०—धौति के अनेक भेद और उपभेद हैं। स्थूल रूप से वायु और जल के द्वारा शरीर का भीतरी भाग मुँहसे गुदातक साफ करने की क्रियाओं को धौति कहते हैं।

प्र०—बस्ति किसे कहते हैं ?

उ०—बस्तिक्रिया दो प्रकार से होती है। जल में बैठ कर गुह्य देश से जल ग्रहण करना जलबस्ति है और शुष्कबस्ति वायु से जलरहित स्थल पर की जाती है। मूत्रसंस्थान और वस्तिप्रदेश इस क्रिया से शुद्ध होता है।

प्र०—नेति किसे कहते हैं ?

उ०—नाक के द्वार से आध हाथ लम्बा शुद्ध वस्त्र प्रवेश करके उसे मुखद्वार से बाहर निकालने से नेति क्रिया कही जाती है। इससे नासिका और मस्तिष्क शुद्ध होता है।

प्र०—लौलिकी किसे कहते हैं ?

उ०—प्रबल वेग से पेट को दोनों पार्श्व में घुमाने से लौलिकी क्रिया सिद्ध होती है। इससे सब रोग नष्ट हो जाते है।

प्र०—त्राटक किसे कहते हैं ?

उ०—आँखों की पलक बंद न हो और अश्रुपात न हो, इस हालत में किसी सूक्ष्म वस्तु पर दृष्टि स्थिर रखने की क्रिया को त्राटक कहते हैं। इससे दिव्यदृष्टि उत्पन्न होती है।

प्र०—कपालभाति किसे कहते हैं ?

उ०—नाक के एक नथने से वायु ग्रहण करके दूसरे नथने से छोडना और दूसरे नथने से वायु ग्रहण करके पहिले नथने से छोडना इस प्रकार की क्रिया को कपालभाति कहते है। इससे श्वासप्रश्वास–संस्थान और रक्ताभिसरण–संस्थान शुद्ध होता है।

प्र०—आसन किसे कहते हैं ?

उ०—" अभ्यासाद्यस्य देहोऽयं योगौपयितां व्रजेत् ।
मनश्च स्थिरतामेति प्रोच्यते तदिहासनम् ॥ "

जिस के अभ्यास से शरीर योग से युक्त और मन स्थिर हो जाता है, उसे आसन कहते हैं ।

प्र०—आसन कितने हैं ?

उ०—" सिद्धं च स्वास्तिकं पद्मं बद्ध-पद्मं च भद्रकम् ।
मुक्तं वज्रं च सिंहं च गोमुखं वीरमेव च ॥
धनुर्मृतं तथा गुप्तं मात्स्यं मत्स्येन्द्रमेव च ।
गोरक्षं पश्चिमोत्तानमुत्कटं संकटं तथा ॥
मायूरं कुक्कुटं कूर्मं तथा चोत्तानकूर्मकम् ।
उत्तानमण्डुकं वृक्षं माण्डूकं गरुडं वृषम् ॥
शलभं मकरं चोष्ट्रं भुजंगं योगमासनम् । "
आसनानि त्रयास्त्रिंशत् सिद्धिदानीति निश्चितम् ॥

सिद्धासन, स्वास्तिकासन, पद्मासन, बद्धपद्मासन, भद्रासन, मुक्तासन, वज्रासन, सिंहासन, गोमुखासन, वीरासन, धनुरासन, मृतासन, गुप्तासन, मत्स्यासन, मत्स्येन्द्रासन, गोरक्षासन, पश्चिमोत्तानासन, उत्कटासन, संकटासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, कूर्मासन, उत्तानकूर्मासन, उत्तान मण्डूकासन, वृक्षासन, माण्डूकासन, गरुडासन, वृषासन, शलभासन, मकरासन, उष्ट्रासन, भुजंगासन, और योगासन ये ३३ सिद्धिप्रदायक आसन हैं । इन आसनों से योगसिद्धि के अतिरिक्त शरीर की सब व्याधियाँ नष्ट होकर शरीर जरा से रहित हो जाता है ।

प्र०—योगासन के लिए उपयुक्त स्थान कौनसा है ?

उ०—सुराज्य, सुधार्मिक, सुभिक्ष और उपद्रवरहित देश में शिला, अग्नि तथा जल से अलग ऐसे एकान्त स्थान में छोटी सी कुटी बनाकर उस के बीच में बैठकर योगसाधन करना चाहिए । साधनगृह का द्वार छोटा हो, उस में कूड़ा कर्कट न हो और गोमय से लिपा हुआ हो ।

प्र०—योगाभ्यास के लिए महत्वपूर्ण और सुलभ आसन कौन से हैं ?

उ०—पद्मासन, सिद्धासन, और वीरासन ये तीन आसन सर्वसाधारण के लिए सुगम हैं।

प्र०—पद्मासन किसे कहते हैं ?

उ०—" दक्षिणं चरणं वामे दक्षिणोरौ च सव्यकम्।
अक्लेशमासनं यद्धि पद्मासनमितीरितम्॥ "

क्लेशरहित होकर बैठते हुए दाहना पैर बाँये उरु के ऊपर और बाँये पैर दाहने उरु के ऊपर रख कर जो सुगम आसन होता है उसे पद्मासन कहते हैं।

प्र०—सिद्धासन किसे कहते हैं ?

उ०—" वशीकृतेन्द्रियग्रामो वामगुल्फेन गुह्यकम्।
दक्षिणेन च लिंगस्य मूलमापीडयेत्ततः॥
मेरुदण्डमृजू कुर्वन्नास्यते यत्सुखासनम्।
सिद्धासनमिति प्रोक्तं योगसिद्धिकरं परम्॥ "

जितेन्द्रिय साधक जब वामगुल्फद्वारा गुदा को और दक्षिण गुल्फ द्वारा लिंग-मूल को दबाकर मेरुदण्ड सीधा करता हुआ सुख से बैठे, तब वह सिद्धासन कहाता है।

प्र०—वीरासन किसे कहते हैं ?

उ०—दोनों पैरों के तलवे पीछे करके सामने घुटने के बल बैठने को विरासन कहते हैं।

प्र०—मुद्रा किसे कहते हैं ?

उ०—" प्राणायामस्तथा प्रत्याहारो धारणध्यानके।
समाधिः साधनांगानामेषां सिद्धौ हि या हिता॥
साहाय्यमादधातीह सुकौशलभरा क्रिया।
मुद्रा सा प्रोच्यते धीरैर्योगिभिस्तत्वदर्शिभिः॥ "

जिन क्रियाओं के द्वारा प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिरूपी साधनाओं की सिद्धि में सहायता प्राप्त होती है, ऐसी सुकौशलपूर्ण क्रियाओं को मुद्रा कहते हैं।

प्र०—मुद्रा कितनी हैं ?

उ०—" महामुद्रा नमोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धो महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ॥
विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालिनी ।
ताडागी चैव माण्डूकी शाम्भवी पञ्चधारणा ॥
अश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी ।
पञ्चविंशति मुद्राः स्युः सिद्धिदा योगिनां सदा ॥ "

महामुद्रा, नमोमुद्रा, उड्डीयानमुद्रा, जलन्धरबन्धमुद्रा, मूलबन्धमुद्रा, महाबन्धमुद्रा, महावेगमुद्रा, खेचरीमुद्रा, विपरीतकरणीमुद्रा, योनिमुद्रा, वज्रोलीमुद्रा, शक्तिचालिनीमुद्रा, ताडागीमुद्रा, माण्डूकीमुद्रा, शाम्भवीमुद्रा, पञ्चधारणमुद्रा, अश्विनीमुद्रा, पाशिनीमुद्रा, काकीमुद्रा, मातगीमुद्रा और भुजंगिनीमुद्रा ये २५ मुद्राएँ हैं। इसके सिवाय वज्रोली, अमरोली, सहजोली, आदिमुद्रा भी है। इनके साधन से योगियों को योगसिद्धि प्राप्त होती है और जरा मरण का भी भय नही रहता।

प्र०—प्रत्याहार किसे कहते है ?

उ०—" यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ "

चञ्चल मन जहाँ २ पर भागने लगता है उन सभी स्थानों से मन को हटा कर आत्मा में ही संयत करने की क्रियाओं को प्रत्याहार कहते है।

जब योगी प्रत्याहार के द्वारा मन को आत्मा मे संयत कर के बहिर्जगत् की आसक्ति को छोड़ कर अंतर्जगत् में प्रवेश करने मे समर्थ होता है, तब उस को दैवी सिद्धियाँ प्राप्त होने लगती है और इसमे योगी का पतन होने की सम्भावना नहीं रहती है।

प्र०—सिद्धियाँ कितने प्रकार की है ?

उ०—" चतुर्विधाः सिद्धयः स्युः प्राप्या या योगवित्तमैः ।
आध्यात्मिकी चाऽधिदैवी सहजा चाऽधिभौतिकी ॥ "

अध्यात्मसिद्धि, आधिदैविकसिद्धि, आधिभौतिकसिद्धि और सहजसिद्धि ये चार प्रकार की सिद्धियाँ हैं।

प्र०—आध्यात्मिकसिद्धि किसे कहते हैं?

उ०—जीवन्मुक्त या समाधि की पूर्णता को प्राप्त हुए गुरु अपने शिष्य या किसी व्यक्ति पर प्रसन्न होकर उस को आध्यात्मिक उन्नति होने का जो आशीष देते हैं, उस आशीष का सफल होना ही आध्यात्मिकसिद्धि है।

प्र०—आधिदैविकसिद्धि किसे कहते हैं?

उ०—योगी को अलौकिक चमत्कार सिद्धि हो जाने को आधिदैविकसिद्धि कहते हैं। जैसे स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर धारण कर गुप्त रीति से दूसरे स्थान में प्रकट होना, अपने शरीर को बिलकुल हलका या बहुत भारी करना, दूसरे के शरीर में प्रवेश करना, दूसरे लोगों में सूक्ष्म शरीरद्वारा भ्रमण करना इत्यादि।

प्र०—आधिभौतिकसिद्धि किसे कहते हैं?

उ०—प्रकृति के ऊपर अर्थात् सृष्टिनियम पर विजय प्राप्त कर के सृष्टि-नियमों को अपनी इच्छानुसार चलाना आधिभौतिकसिद्धि है। जैसे असाध्य रोगों को आराम करना, बेऋतु में वर्षा का कौतुक दिखलाना इत्यादि।

प्र०—सहजसिद्धि किसे कहते हैं?

उ०—योगी के मुँह से सहजरूप से जो वचन निकले उन की असंभव तौरसे पूर्ति होना सहजसिद्धि कहाती है।

प्र०—इन सिद्धियों से लाभ उठाने पर साधक को क्या फल मिलता है?

उ०—"प्रत्याहारे शुभकराः सिद्धयो हि सुखावहाः।
तथापि सर्वथा हेया आत्मप्राप्तिमभीप्सुभिः॥"

सिद्धियाँ परमसुखप्रद होने पर भी सर्वथा निन्दनीय और हेय हैं। आत्मोन्नति का इच्छुक साधक उन में विमोहित न हो। इन के फंदे में पडने से उन्नति का पथ रुक जाता है।

प्र०—प्राणायाम किसे कहते हैं?

उ०—" प्रधानशक्तयः प्राणास्ते वै संसाररक्षकाः ।
वशीकृतेषु प्राणेषु जीयते सर्वमेव हि ॥
प्राणास्तु द्विविधा ज्ञेयाः स्थूलसूक्ष्मप्रभेदतः ।
यया जयः स्यात्प्राणानां प्राणायामः स चोच्यते ॥ "

प्राण ही महाशक्ति है । प्राण ही जगत् के रक्षक हैं । प्राण के वशीभूत करने से सब कुछ जय हो जाता है । स्थूल—सूक्ष्म भेद से प्राण के दो भेद हैं । प्राण जय करनेवाली क्रिया को प्राणायाम कहते हैं ।

प्र०—प्राणायाम के कितने प्रकार हैं ?

उ०—" सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाऽष्टकुम्भकाः ॥ "

प्राणायाम के सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली ये आठ प्रकार हैं । प्राणायाम की सिद्धिद्वारा प्राण—जय होकर मनोवृत्ति का निग्रह शीघ्र ही हो जाता है ।

प्र०—प्रणायाम की साधारण विधि क्या है ?

उ०—" इडयाकर्षयेद्वायुं बाह्यं षोडश मात्रया ।
धारयेत्पूरितं योगी चतुःषष्ट्या तु मात्रया ॥
सुषुम्नामध्यगं सम्यग् द्वात्रिंशन्मात्रया शनैः ।
नाड्या पिंगलया चैवारेचयेद्योगवित्तमः ॥
प्राणायाममिमं प्राहुर्योगशास्त्रविशारदाः । " (देवीगीता)

सोलह बार प्रणव का उच्चार करते हुए नासिका के बाएँ नथने से धीरे २ वायु को खींचे । चौंसठ बार प्रणव का उच्चारण होने तक उस वायु को योगी सुषुम्ना में रखे अर्थात् कुम्भक करे । इसके बाद योगी बत्तीस बार प्रणव का उच्चार करते हुए पिंगला याने नाक के दाहिने नथने से वायु धीरे २ बाहर छोड़े । इस क्रिया को योगशास्त्रविशारद प्राणायाम कहते हैं ।

प्र०—हठयोग में ध्यान किस प्रकार का बतलाया गया है ?

उ०—" ध्यानं यद् ब्रह्मणस्तेजोमयं दीपस्फुलिंगकम् ।
ज्योतिर्ध्यानं हि भवति प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥ "
अहं ममेतिवत्तौ चाऽभिन्नौ हि परिकीर्तितौ ।
ध्यानं वै ब्रह्मणस्तेजोमयं रूपं प्रकल्पयेत् ॥
ज्योतिर्ध्यानं भवेत्तद्धि प्राप्यं गुरुकृपावशात् ।
नाभिहृद्भ्रूयुगान्याहुर्ध्यानस्थानं मनीषिणः ॥
ध्यानस्थानं विनिर्णीतं साधकस्याधिकारतः ।
आधारपद्ममपरं ध्यानस्थानं चतुर्थकम् ॥
केचिन्निरूपयन्तीह योगतत्त्वविशारदाः ।
सिद्धे ध्याने हि प्रत्यक्षो भवत्यात्मा विशेषतः ॥ "

दीपकलिकावत् तेजोमय ब्रह्मध्यान को ज्योतिर्मय ध्यान कहते हैं । वह प्रकृति-ध्यान भी है और ब्रह्मध्यान भी है, क्योंकी " मैं और मेरा " जैसा प्रकृति में अभेद है । ब्रह्म के तेजोमय रूपकल्पनाद्वारा ज्योतिर्ध्यान की विधि गुरुदेव से प्राप्त करने योग्य है । नाभि, हृदय, तथा भृकुटिके मध्य का भाग ये तीनों स्थान ज्योतिर्ध्यान के लिए निर्दिष्ट हैं । कोई २ योगवित् आधार ब्रह्मरूपी चतुर्थ स्थान का भी निर्देश करते हैं । ज्योतिर्ध्यान की सिद्धावस्था में आत्मा का प्रत्यक्ष होता है ।

प्र०—हट योग में समाधि किस प्रकार प्राप्त होती है ?

उ०—" प्राणायामस्य सिद्ध्या वै जीयन्ते प्राणवायवः ।
ततोऽधिगम्यते शक्तिः पूर्णा कुम्भकसाधने ॥
समाधिर्हठयोगस्य त्वरितं प्राप्यते ततः ।
शुक्रं वायुर्मनश्चैते स्थूलकारणसूक्ष्मतः ॥
अभिन्नास्तत्र प्राधान्यं वायोरेव विदुर्बुधाः ।
शक्तिस्वरूपकत्वाद्धि तन्निरोधान्मनोजयः ॥
तस्मान्मनोजयाच्चैव समाधिः समवाप्यते ।
शरीरतो मनः सम्यगपनीय विजित्य तत् ॥

स्वस्वरूपोपलब्धिर्हि समाधिरिति चोच्यते ।
अद्वितीयमहं ब्रह्म सच्चिदानन्दरूपधृक् ॥
नित्यमुक्तोऽस्मीति सदा समाधावनुभूयते "।

प्राणायामसिद्धि के द्वारा वायु जय हो जाने पर कुम्भक करने की पूर्ण शक्ति प्राप्त होने से हठयोगसमाधि का लाभ होता है। वीर्य, वायु और मन ये तीनों स्थूल, सूक्ष्म और कारण सम्बन्ध से एक ही हैं। इन तीनों में वायु ही प्रधान है। क्योंकी वायु ही शक्तिरूप है। वायु के निरोधद्वारा मन का निरोध हो जाता है इस लिए वायु के निरोध से मनोजय और मनोजय से समाधि की प्राप्ति होती है। शरीर से मन को पृथक् करके उस का लय करते हुए स्वस्वरूपोपलब्धि का नाम समाधि है। समाधिदशा में मन का लय हो जाता है। और मैं ही अद्वितीय ब्रह्म सच्चिदानन्द-रूप तथा नित्य मुक्त हूँ, ऐसा अनुभव होता है। यही हठयोगी की समाधि और अन्तिम साधन है।

लययोग।

प्र०—लययोग किसे कहते हैं?

उ०—" **ब्रह्माण्डपिण्डे सदृशे ब्रह्मप्रकृतिसम्भवात् ।**
समष्टिव्यष्टिसम्बन्धादेकसम्बन्धगुम्फिते ॥
पिण्डज्ञानेन ब्रह्माण्डज्ञानं भवति निश्चितम् ।
गुरूपदेशतः पिण्डज्ञानमाप्य यथा यथम् ॥
ततो निपुणया युक्त्या पुरुषे प्रकृतेर्लयः ।
लययोगाभिधेयः स्यात् प्रोक्तमेतन्महर्षिभिः ॥ "

प्रकृतिपुरुष से उत्पन्न हुए ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों एक ही हैं। समष्टि और व्यष्टि सम्बन्ध से ब्रह्माण्ड और पिण्ड एकत्व-सम्बन्ध से युक्त हैं। जो जो बातें ब्रह्माण्ड में पाई जाती हैं वे ही सूक्ष्म रूप से पिण्ड में भी मौजूद हैं। पिण्ड-ज्ञान से ब्रह्माण्ड-ज्ञान हो सकता है। गुरूपदेशद्वारा सब शक्ति-सहित पिण्ड का ज्ञानलाभ करके प्रकृति का पुरुष में लय कर देने की जो क्रिया है उसे लययोग कहते हैं।

"तस्मिन्नेव लयं यान्ति।" "ते लयं यान्ति तत्र वै।"

प्र०—लययोग में किस का ध्यान किया जाता है?

उ०—लययोग में बिन्दुमय ब्रह्म और कुण्डलिनीशक्ति का ध्यान किया जाता है।

प्र०—लययोग के कितने अंग हैं?

उ०—"अंगानि लययोगस्य नवैवेति पुराविदः।
यमश्च नियमश्चैव स्थूलसूक्ष्मक्रिये तथा॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानंचापि लयक्रिया।
समाधिश्च नवाङ्गानि लययोगस्य निश्चितम्॥"

यम, नियम, स्थूलक्रिया, सूक्ष्मक्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि ये नौ अङ्ग लययोग के हैं।

प्र०—यम किसे कहते हैं?

उ०—"अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचन्त्वेते यमा दश॥"

अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच ये दश यम हैं।

प्र०—नियम किसे कहते हैं?

उ०—"तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणञ्चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्॥"

तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, ह्री, मति, जप, और व्रत ये नियम हैं।

प्र०—स्थूलक्रिया किसे कहते हैं?

उ०—स्थूलक्रिया में आसनमुद्रादि सम्मिलित हैं।

प्र०—सूक्ष्म क्रिया किसे कहते हैं?

उ०—सूक्ष्मक्रिया में प्राणायाम, स्वरोदय आदि विधियाँ सम्मिलित हैं।

प्र०—लययोग में कौन सा प्राणायाम श्रेष्ठ है?

उ०—" लययोगोपयोगाय प्राणायामस्तु केवली ।
प्रोच्यते तीर्णसंसारसागरैः परमर्षिभिः ॥
स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कार्यौ नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥
यः साधकः केवलकुम्भकस्याभ्यासं करोतीह स एव योगी ।
न विद्यते किञ्चिदसाध्यमत्र धन्यस्य योगिप्रवरस्य तस्य ॥
प्राणायामे साधितेऽस्मिन्साधकैस्त्वनुभूयते ।
प्रत्याहारो धारणा च समाधिर्ध्यानमेव च ॥ "

लययोग के उपयोगी प्राणायाम को केवली प्राणायाम कहते है । इन्द्रियों के विषय को मन से हटाकर भ्रूयुगल के मध्य में चक्षु स्थिर करके नासिका और आभ्यंतरचारी प्राण और अपान को समभाव मे परिणत करने से केवली प्राणायाम का साधन होता है । जो साधक केवली प्राणायाम का साधन करते हैं वे ही यथार्थ में योगी हैं । इस प्रणायाम के साधन को करते हुए तत्काल में क्रमशः प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का अनुभव हो सकता है ।

प्र०—स्वरोदय किसे कहते हैं ?

उ०—" प्राणा मरुन्मनश्चैते कार्यकारणरूपतः ।
अभिन्नाश्च जिते वायौ जिताः प्राणाः मनस्तथा ॥
प्राणवायुं विनिर्जित्य महाप्राणमनोजयः ।
तत्वज्ञानोपलब्धिश्चेत्युच्यते हि स्वरोदयः ॥ "

प्राण, वायु और मन ये तीनों कार्यकारण सम्बन्ध से एकही होने के कारण प्राणवायुजयद्वारा महाप्राणजय और मनोजय हो सकता है । प्राणवायु को जय करके महाप्राणजय, मनोजय और तत्वज्ञानलाभ करने को स्वरोदय कहते हैं ।

प्र०—प्रत्याहार किसे कहते हैं ?

उ०—" यथा कूर्मो निजांगानि समाकुञ्च्य प्रयत्नतः ।
प्रापय्याद्दश्यतां तेषां निश्चिन्तास्तिष्ठति ध्रुवम् ॥

इन्द्रियेभ्यः परावृत्य मनः शक्तिं तथा दृढम् ।
अन्तर्मुखविधानं यत्प्रत्याहारः प्रकथ्यते ॥
अन्तर्जगद् द्वारभूतः प्रत्यहारः ॥

जिस प्रकार कछुवा अपने अंगों को सिकोड़ कर अदृश्य कर देता है, उसी प्रकार मन की शक्ति इन्द्रियों से हटाकर अंतर्मुख करने को प्रत्याहार कहते हैं। प्रत्याहार अन्तर्जगत् का द्वार-रूप है।

प्र०—प्रत्याहार में सिद्धि प्राप्त होने से क्या होता है ?

उ०—" सिद्ध्युन्मुखेऽस्मिन्नादस्य प्रारम्भः किल जायते ।
यत्साहाय्यात्प्राप्यते हि समाधिरपि साधकैः ॥ "

प्रत्याहार की सिद्धि प्राप्त होते ही नाद का आरम्भ होता है। नाद की सहायता से समाधि तक की प्राप्ति होती है।

" नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरः सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥"
[श्वेताश्वतरोपनिषद् २-११]

प्रत्याहार में मेघ, धूम्र, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, विद्युत्, स्फटिक और चन्द्र ये यदि दिखलाई दें तो साधक आत्मादर्शनप्राप्ति के मार्ग में आगे बढ रहा है, ऐसा समझना चाहिये।

प्र०—नाद किस प्रकार के होते हैं और इनसे क्या लाभ होता है ?

उ०—"श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्म–सूक्ष्मकः ॥
आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसंभवाः ।
मध्ये मर्दलशङ्खोत्था घंटाकाहलजास्तथा ॥
अन्ते तु किंकिणिवंशविणाभ्रमरानिःस्वना ।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः ॥ "
(नादबिन्दु-उपनिषद्)

पहले समुद्रतरंगध्वनि, मेघध्वनि, भेरी–झर्झर–ध्वनियां सुनाई दिया करती हैं; अनन्तर मध्यमावस्था में मर्दल, शङ्ख, घण्टा आदि के शब्द सुनने में आते हैं। अन्त में प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर हो जाने पर नाना प्रकार के किंकिणी, वंशी, वीणा और भ्रमरगुंजन की नाई शब्द होते हैं।

“ अस्यैव जप कोट्या नादमनुभवति । स च दशविधो जायते । चिणिति प्रथमः । चिणिचिणीति द्वितीयः । घण्टानादस्तृतीयः । शङ्खनादश्चतुर्थः । पञ्चमस्तन्त्रीनादः । षष्ठस्तालनादः । सप्तमो वेणुनादः । अष्टमो भेरीनादः । नवमो मृदङ्गनादः । दशमो मेघनादः ॥ ” [हंसोपनिषद्]

दस नाद—पहला चुनचुनाहट की ध्वनि, दुसरा चुनचुनाहट की लगातार ध्वनि, तिसरा घण्टे के समान ध्वनि, चौथा शङ्ख के समान ध्वनि, पाँचवाँ तन्त्री के समान ध्वनि, छठा ताल (मंजीरे) के समान ध्वनि, सातवा बंसी के समान ध्वनि, आठवा भेरी के समान ध्वनि, नववा मृदङ्ग के समान ध्वनि, दसवाँ मेघ के समान ध्वनि, इस प्रकार क्रमपूर्वक दस नाद होते हैं।

“ तत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्द्धं विलीयते ॥
मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ।
नियंत्रणे समर्थोऽयं निनादनिशिताङ्कुशः ॥
अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ।
ध्वनेरंतर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यांतर्गतं मनः ॥
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् । ”

जिस नाद में मन लग जाय, योगी को उचित है कि उसी नाद में मन को स्थिर करके लय करने की चेष्टा करे। मन–रूप मत्त मातंग विषय–रूप उद्यान में सदा भ्रमण किया करता है। एकमात्र नादानुसन्धानरूप क्रिया ही उस मातंग के लिए अंकुश-रूप है। जब अनाहत शब्द सुनाई देने लगता है, तब नादध्वनि के अन्तर्गत ईश्वररूप का दर्शन होता है। और तत्पश्चात् परमात्मा में मन लय को प्राप्त होकर जीव विष्णु के परम पद को पहुँच जाता है।

प्र०—धारणा किसे कहते हैं।

उ०—" अन्तर्जगत् समासाद्य पंचतत्वेषु कुत्रचित्।
सूक्ष्मप्रकृतिभावेषु यदा शक्नोति योगवित्॥
आधातुमन्तःकरणं तदा सा धारणा भवेत्।"

योगी जब अन्तर्जगत् में पहुँच कर पंच सूक्ष्म तत्वों में से किसी सूक्ष्म प्रकृति के भाव में अन्तःकरण को ठहरा सकता है, तब उसी का नाम धारणा है।

प्र०—लययोग की धारणावस्था में साधक सूक्ष्म तत्व को प्राप्त करके ब्रह्म में किस प्रकार मिल सकता है?

उ०—साधक योग-क्रिया के द्वारा मूलाधारस्थिता निद्रिता कुण्डलिनि को जागृत करके षट्चक्रभेदनद्वारा सहस्त्रदल पद्म में पहुँचा कर लय कर देने से मुक्त हो जाता है।

प्र०—कुण्डलिनी किसे कहते हैं?

उ०—" गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः।
चतुरङ्गुलविस्तारं कन्दमूलं खगाण्डवत्॥
नाड्यस्तस्मात्समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः।
मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे॥
मध्ये नाडी सुषुम्ना त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा।"

गुदा से दो अंगुली ऊपर और उपस्थ से दो अंगुली नीचे चतुरंगुल विस्तृत समस्त नाडियों का मूलकन्द पक्षी के अण्डे की तरह विद्यमान है। इसी में से हजारो नाडियों निकल कर सब शरीर भर में व्याप्त होगई हैं। इन नाडियों में से योग-शास्त्र में इडा, पिंगला और सुषुम्ना ये तीन नाडियाँ मुख्य हैं। मेरु-दण्ड के बहिर्देश में इडा और पिंगला नाम की दो योग-नाडियाँ हैं, जो चन्द्र और सूर्य-रूपिणी तथा मेरुदण्ड के वाम [इडा] और दाक्षिण [पिंगला] हैं। और मेरुदण्ड के मध्यदेश में सत्वरजस्तमोगुणमयी तथा चन्द्रसूर्याग्निरूपा सुषुम्नां नाडी स्थित है।

यह जो नाडियों का मूलकन्द है उसी में मूलाधारपद्म है। उसमें कुण्डलिनी नाम की शक्ति सर्प के समान सुषुम्ना का द्वार ढक कर लिपटी हुई निद्रित है। कुण्डलिनी का उत्थान किये बिना प्राण सुषुम्ना के मार्ग से प्रवाहित नहीं हो सक्ता।

इस लिए योगीजन प्राणायामद्वारा कुण्डलिनी का उत्थान कर षट्चक्र के भेदन-द्वारा आत्मोन्नति को प्राप्त करते हैं।

प्र०--छह चक्र [पद्म] कौन २ हैं और कहाँ पर हैं?

उ०--(१) मूलाधारपद्म गुदा के ऊपर और लिंगमूल के नीचे सुषुम्ना के उद्-गमस्थान में अर्थात् कन्द और सुषुम्ना के सन्धिस्थल में विद्यमान है। (२) स्वाधिष्ठान-पद्म लिंगमूल में स्थित है। (३) मणिपुरपद्म नाभिमूल में है। (४) अनाहतपद्म हृदय में स्थित है। (५) विशुद्धपद्म कण्ठ में स्थित है। (६) आज्ञापद्म भ्रूद्वय के मध्य में है। यह सब पद्मों से श्रेष्ठतम समझा गया है।

प्र०--ब्रह्मरन्ध्र किसे कहते हैं और लययोग में इसका क्या महत्व है?

उ०--" **तालुस्थाने च यत्पद्मं सहस्रारं पुरोहितम्।**
तत्कन्दे योनिरेकाऽस्ति पश्चिमाभिमुखी मता॥
तस्या मध्ये सुषुम्नाया मूलं सविवरं स्थितम्।
ब्रह्मरन्ध्रं तदेवोक्तं मुक्तिद्वारं च संज्ञया॥"

तालुमूल में सहस्रार (सहस्रदल कमल) है, उसके मूल देश में एक त्रिकोणा-कार यंत्र अधोमुख स्थित है। उसके मध्य में जहाँ सच्छिद्र सुषुम्नानाडी का मूल है, उसी को ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं और इसीका नाम मुक्तिद्वार भी कहलाता है। यही इडा, पिंगला और सुषुम्ना का संगमस्थान है। उसी स्थान में कुण्डलिनी महाशक्ति का लय करने से साधक मुक्त हो जाता है।

प्र०--लययोग का चरम ध्येय क्या है?

उ०--" **नादस्य बिन्दोः साहाय्यात्समाधिराधिगम्यते।**
नादस्य बिन्दोश्चैकत्वे मनस्तत्र विलीयते॥
दृश्यनाशात्तदा द्रष्टृरूपमेति प्रकाशताम्।
षट्चक्रपरिभेदेन भवेत् कुण्डलिनीलयः॥
यदा विज्ञायतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः।"

नाद और बिन्दु की सहायता से मन की एकाग्रता करके महाशक्ति कुण्डलिनी को षट्चक्र-भेदनद्वारा ब्रह्मरन्ध्र में लीन करने से ध्यान और समाधि की सिद्धि होकर आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। यह लययोग का अन्तिम ध्येय है।

राजयोग ।

प्र०—राजयोग क्या है ?

उ०—" सृष्टिस्थितिविनाशानां हेतुना मनसि स्थिता ।
तत्साहाय्यात्साध्यते यो राजयोग इति स्मृतः ॥
अंतःकरणभेदास्तु मनो बुद्धिरहंकृतिः ।
चित्तश्चेति विनिर्दिष्टाश्चत्वारो योगपारगैः ॥
तदन्तःकरणं दृश्यमात्मा द्रष्टा निगद्यते ।
विश्वमेतत्तयोः कार्यकारणत्वं सनातम् ॥
दृश्यद्रष्ट्रोश्च सम्बन्धात्सृष्टिर्भवति शाश्वती ।
चाञ्चल्यं चित्तवृत्तीनां हेतुमत्र विदुर्बुधाः ॥
वृत्तीर्जित्वा राजयोगः स्वस्वरूपं प्रकाशयेत् ।
विचारबुद्धेः प्राधान्यं राजयोगस्य साधने ॥ "

सृष्टि, स्थिति और लय का कारण अन्तःकरण ही है । उसकी सहायता से जिसका साधन किया जाता है, उसको राजयोग कहते है । मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये अन्तःकरण के चार भेद है । अन्तःकरण दृश्य और आत्मा द्रष्टा है । अन्तःकरणरूपी कारण दृश्य से जगत्-रूपी कार्य दृश्य का कार्यकारण सम्बन्ध है । दृश्य से द्रष्टा का सम्बन्ध स्थापित होने पर सृष्टि होती है । चित्तवृत्ति का चाञ्चल्य ही इसका कारण है । वृत्तिजयपूर्वक स्वस्वरूप का प्रकाश करना राजयोग कहाता है । राजयोगसाधन में विचारबुद्धि का प्राधान्य रहता है । वेदान्तप्रतिपाद्य निर्गुण माया से अतीत परब्रह्म की उपलब्धि ही इस योग का उद्देश्य है । अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' का अन्तःकरण में अनुभव हो जाना ही राजयोग है ।

प्र०—राजयोग में अन्य योगों के अनुसार किन २ विधि और नियमों का पालन करना पड़ता है ?

उ०—जिस प्रकार वेदान्तभूमि में अधिकारलाभ करने के अर्थ साधक को नित्यानित्यवस्तुविवेक, शमदमादि षट्सम्पत्ति, इहामुत्रफलभोगविराग और मुमुक्षुत्व इन साधनचतुष्टय से सम्पन्न होना पड़ता है, उसी प्रकार राजयोग साधन के पहले

भी योगी को साधनचतुष्टयसम्पन्न होना पड़ता है। अन्य योगों की तरह इस में स्थूल क्रिया का कोई महत्व नहीं है। क्योंकि यहां विचार और भावना प्रधान होने से इस का सम्बन्ध केवल अन्तःकरण से ही है।

प्र०—राजयोग का अवलम्बन कब करना चाहिए?

उ०—" **मंत्रे हठे लये चैव सिद्धिमासाद्य यत्नतः।**
पूर्णाधिकार माप्नोति राजयोगपरो नरः ॥ "

मंत्रयोग, हठयोग और लययोग इन तीनों के सिद्धि प्राप्त करने में अनन्तर अथवा किसी एक में सफलता प्राप्त करने के बाद साधक राजयोग का पूर्ण अधिकारी होता है।

" **राजत्वात्सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः ॥** "
" **अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम् ॥** "

समस्त योगों में श्रेष्ठ योग यही है, कि योगबल से परमात्मा का साक्षात्कार किया जाय। राजयोग की सिद्ध दशा में जीव और ब्रह्म की एकतासिद्धि होकर सर्वत्र अद्वितीय परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। इसी लिए राजयोग सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

प्र०—राजयोग के कितने अंग हैं?

उ०—" **कला षोडशकोपेता राजयोगस्य षोडश।**
सप्त चांगानि विद्यन्ते सप्तज्ञानानुसारतः ॥
विचारमुख्यं तज्ज्ञेयं साधनं बहु तस्य च।
धारणांगे द्विधा ज्ञेये ब्रह्मप्रकृतिभेदतः ॥
ध्यानस्य त्रीणि चांगानि विदुः पूर्वे महर्षयः।
ब्रह्मध्यानं विराड्ध्यानं चेशध्यानं यथाक्रमम् ॥
ब्रह्मध्याने समाप्यन्ते ध्यानान्यन्यानि निश्चितम्
चत्वार्यंगानि जायन्ते समाधेरिति योगिनः ॥
सविचारं द्विधाभूतं निर्विचारं तथा पुनः।
इत्थं संसाधनं राजयोगस्यांगानि षोडश ॥ "

षोडश कला से पूर्ण राजयोग के सोलह अंग हैं। सप्त ज्ञानभूमिकाओं के अनुसार सात अंग हैं। ये सब विचारप्रधान हैं। उन के साधन अनेक प्रकार के हैं। धारणा के अंग दो हैं—एक प्रकृतिधारणा और दूसरी ब्रह्मधारणा। ध्यान के अंग तीन हैं—विराटध्यान, ईशध्यान और ब्रह्मध्यान। ब्रह्मध्यान में ही सब की परिसमाप्ति है। समाधि के चार अंग हैं—दो सविचार और दो निर्विचार। इस प्रकार से राजयोग के षोडश अंगों के साधनद्वारा राजयोगी कृत-कृत्य होता है।

प्र०—सप्त ज्ञानभूमिका कौन २ सी हैं?

उ०—" निमित्तकारणीभूतं सृष्टिर्ब्रह्मेति बोधनम्।
षोडशानां पदार्थानां तत्वाभिज्ञानतः स्फुटम्॥
परमाणोश्च नित्यत्वं प्रथमं भूमिदर्शनम्।
धर्माधर्मौ विनिर्णीय षट् पदार्थान् विचार्य वै॥
परतत्वोपलब्धिश्च द्वितीयं भूमिदर्शनम्।
त्रयो जगतो मूलं रुद्ध्वा तां यत्नपूर्वकम्॥
परतत्वोपलब्धिर्हि तृतीया भूमिका मता।
विदित्वा प्रकृतिं सम्यक् परतत्वावबोधनम्॥
कथयन्ति बुधा एतत्तुरीयं भूमिदर्शनम्।
प्राधान्यात् कर्मणो ब्रह्म जगदेवेति निश्चयः॥
पञ्चमी भूमिका सेयं निर्दिष्टा तत्ववेदिभिः।
भक्तेः प्रधानताहेतोर्ब्रह्मैव निखिलं जगत्॥
येयं बुद्धिर्विनिर्दिष्टा सा षष्ठी भूमिका मता।
ज्ञानाधिक्यादहं ब्रह्म स्मीति धीः सप्तमी भवेत्॥"

परमाणु की नित्यता का ज्ञान, ब्रह्म को सृष्टि का निमित्तकारण देखना, और षोडश पदार्थ के ज्ञानद्वारा परमतत्व को प्राप्ति करना प्रथम भूमिका का दर्शन है।

धर्माधर्मनिर्णय और षट् पदार्थों के ज्ञानद्वारा परमतत्व का ज्ञान लाभ करना दूसरी भूमिका का दर्शन है।

जगत् का मूल वृत्ति है, अतः चित्तवृत्ति के निरोधद्वारा परमतत्व का लाभ करना तृतीय भूमिका का दर्शन है।

प्रकृति को सम्यक् प्रकार से जानकर परमतत्व का साक्षात्कार करना चतुर्थ भूमिका का दर्शन है।

कर्म की प्रधानता से जगत् ही ब्रह्म है इस का अनुभव होना पंचम भूमिका का दर्शन है।

भक्ति की प्रधानता से ब्रह्म ही जगत् है, इस का अनुभव होना षष्ठ भूमिका का दर्शन है।

ज्ञान की प्रधानता से मैं ही ब्रह्म हूँ, इस अनुभव को प्राप्त कर लेना सप्तम भूमिका का दर्शन है और यही राजयोग का ध्येय है।

प्र०—राजयोग में यम किसे कहते हैं?

उ०—"**सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।**
यमोऽयामिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥" (तेजोबिंदु उप.)

सब इंन्द्रियों का संयमन करके ज्ञान में सर्वत्र ब्रह्म की भावना हो जाने को राजयोग में यम कहा है।

प्र०— राजयोग में नियम किसे कहते हैं?

उ०—"**सजातियप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः।**
नियमोहि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः॥" (ते. बिं. उ.)

सर्वत्र ब्रह्मभाव [सजातीय] में तल्लीन रहने को और ब्रह्मभाव के अतिरिक्त [विजातीय] भावनाओं के तिरस्कार को राजयोग में नियम कहा है।

प्र०—राजयोग में आसन किसे कहते हैं?

उ०—"**सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिंतनम्**
आसनं तद्विजानीयादन्यत्सुखविनाशनम्॥" (ते. बिं. उ.)

जिस तरीके से बैठने पर सुखपूर्वक ब्रह्म का चिंतन पूर्णरूप से किया जा सके उसी को राजयोग में आसन कहते हैं।

प्र०—राजयोग में प्राणायाम किसे कहते हैं ?

उ०—" चित्तादि सर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात् ।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ॥ " (ते. बिं. उ.)

सब वृत्तियों का निरोध करके चित्त को सब प्रकार से ब्रह्म की भावना में लगाने को राजयोग में प्राणायाम कहा है ।

प्र०—राजयोग में प्रत्याहार किसे कहते हैं ?

उ०—" विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वामनसश्चित्तरञ्जनम् ।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥ " (ते. बिं. उ.)

विषयों को आत्मरूप देखने से जो मन का रञ्जन होता है, उसको राजयोग में प्रत्याहार कहा है ।

प्र०—राजयोग में धारणा किसे कहते हैं ?

उ०—साधक को प्रकृति–धारणा (दूसरे योगों में वर्णित धारणा) के पश्चात राजयोग की उच्चतम ब्रह्मधारणा का अभ्यास करना चाहिए ।

" यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात् ।
मनसा धारणं चैव धारणा सा परा मता ॥ "

(ते. बिं. उ.)

जहाँ २ मन जाय वहीं वही ब्रह्मस्वरूप का अनुभव करने में जो मन की स्थिति, उसको राजयोग में धारणा कहते हैं ।

प्र०—राजयोगमें ध्यान किसे कहते हैं ?

उ०—साधक को क्रमशः स्थूल और सूक्ष्म ध्यान [दूसरे योगों में वर्णित ध्यान] के पश्चात् राजयोग के अनुसार ब्रह्मध्यान, आत्मध्यान का अभ्यास करना चाहिए ।

"ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः ।
ध्यानशब्देन विख्यातः परमानन्ददायकः ॥ "

(ते. बिं. उ.)

" मैं ब्रह्म हूँ " इस प्रकार सद्वृत्ति के द्वारा निरालम्बरूप में आत्मा की जो स्थिति, उसे राजयोग में ध्यान कहते हैं ।

प्र०—राजयोग के अनुसार समाधि का क्या स्वरूप है ?

उ०—"निर्विकारतया वृत्या ब्रह्माकारतया पुनः ।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिज्ञानसंज्ञकः ॥
ऊर्ध्वपूर्णमधःपूर्णं मध्यपूर्णं तदात्मकम् ।
सर्वपूर्णं स आत्मेति समाधिस्तस्य लक्षणम् ।

चित्त की वृत्तियों को निर्विकार करके अपने आपको ब्रह्मस्वरूप समझ कर सम्पूर्ण वृत्ति रहित सृष्टिभाव से रहित हो जाने को समाधि कहते हैं । जिस अवस्था में ऊर्ध्वपूर्ण, अधःपूर्ण, मध्यपूर्ण और सर्वपूर्ण अर्थात् सकल स्थानों में पूर्ण रूप से आत्मस्वरूप का बोध होता है, उस अवस्था को राजयोग में समाधि कहा है ।

" ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ "

पञ्चम अध्याय ।

हिन्दू दर्शनों का परिचय ।

ज्ञान ।

प्रश्न—मुक्ति के लिए हिन्दूधर्म में प्रधान मार्ग कितने हैं ?

उत्तर—हिन्दूधर्म में ज्ञान, उपासना और कर्म ये त्रिविध मार्ग मुक्तिके लिये प्रधान रूपसे हैं ।

प्र० —ज्ञानकी प्राप्ति करने के लिए हिंन्दूधर्म में मुख्यतया कौन २ से दर्शन है।

उ० —ज्ञानकी प्राप्ति करने के लिए हिन्दूधर्म के अन्तर्गत निम्नलिखित दर्शन हैं—न्यायदर्शन, वैशेषिक दर्शन, सांख्य दर्शन, योगदर्शन, पूर्वमीमांसा दर्शन, जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन, वेदान्त और गीता दर्शन ।

न्याय दर्शन ।

प्र०—न्याय दर्शन के प्रवर्तक कौन हैं ?

उ० —न्यायदर्शन के प्रवर्तक गौतम ऋषि हैं । न्यायदर्शन को आन्विक्षिकी और अक्षपाद--दर्शन भी कहते हैं ।

प्र० —न्याय दर्शन के कितने अध्याय हैं ?

उ० —न्यायदर्शन ५ अध्यायोमें विभक्त है और प्रत्येक अध्यायमे दो दो आन्हिक हैं ।

प्र० —न्यायदर्शन का प्रतिपाद्य विषय क्या है ?

उ० — न्यायदर्शी की दृष्टिसे संसार दुःखमय है । इस में जो कुछ सुख प्रतीत होता है वह भी दुःखमय है । दुःखका नाश करना हो तो जन्मको ही नष्ट करना होगा । जन्मका कारण प्रवृत्ति है और प्रवृत्तिका कारण राग, द्वेष और मोह

इत्यादि दोष हैं । उक्त दोष मिथ्याज्ञानसें पैदा होते हैं । अतएव मिथ्या ज्ञान को नष्ट किये बिना दुःखोंकी निवृत्ति नही हो सक्ती ।

" दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः । " (न्या० सू० १।१।२१)

इसका वात्स्यायननें निम्न लिखित भाष्य किया है: ।

" यदा तु तत्वज्ञानात् मिथ्याज्ञानमपैति तदा मिथ्याज्ञानापायें दोषा अपयन्ति, दोषापाये प्रवृत्तिरपैति, प्रवृत्यपाये जन्याऽपैति, जन्म अपैति जन्मापाये दुःखमपैति, दुःखापाये चात्यन्तिकोऽपवर्गो निःश्रेयसमिति । "

प्र०—मिथ्याज्ञान नष्ट करने का उपाय क्या है ?

उ०—न्यायदर्शनकी सम्मति में तत्वज्ञान ही मिथ्याज्ञान के नष्ट करने का उपाय है। अतएव तत्वज्ञानके लाभसे ही अपवर्ग अर्थात् आत्यन्तिक दुःख नाश होता है।

प्र०—तत्वज्ञान किस बात का होना चाहिए ?

उ०—**" प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवाद-जल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥"**

निःश्रेयस की प्राप्ति या आत्यंतिक दुःख-नाशके लिये [१] प्रमाण, २] प्रमेय [३] संशय, [४] प्रयोजन, [५] दृष्टांत, [६] सिद्धांत, [७] अवयव, [८] तर्क, [९] निर्णय, [१०] वाद, [११] जल्प, [१२] वितण्डा, [१३] हेत्वाभास, [१४] छल, [१५] जाति, और [१६] निग्रहस्थान इन सोलह पदार्थोंका तत्वज्ञान होना चाहिए ।

प्र०—प्रमाण किसे कहते हैं ?

उ०—यथार्थ ज्ञानका नाम प्रमा और प्रमाका जो कारण अर्थात् यथार्थ ज्ञान लाभ करनेका जो उपाय है उसे प्रमाण कहते है । प्रमाण चार प्रकारके हैं-प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और शद्ब ।

प्र०—प्रमेय किसे कहते हैं ?

उ०—प्रमाण के विषयको प्रमेय कहते हैं। प्रमेय बारह प्रकार के हैं-[१] आत्मा, [२] शरीर, [३] इंद्रिय (चक्षु आदि) [४ अर्थ (इंद्रियोंके विषय क्षिति, जल, तेज वायु और आकाश के संयोग से यथाक्रम उत्पन्न हुए शद्ब, स्पर्श, रूप, रस, और गंध,) [५] बुद्धि, [६] मन, [७] प्रकृति, [८] दोष (राग द्वेष और मोह), [९] प्रेत्य भाव (पुनर्जन्म,) [१०] फल (कर्म-फल-भोग) [११]दुःख और [१२ अपवर्ग।

प्र०—संशय किसको कहते है ?

उ०—अनवधारणा-ज्ञानका नाम संशय है। साधारण धर्मज्ञान, असाधारण धर्मज्ञान, विप्रतिपात्ति, उपलब्धि और अनुपलब्धि ये पाँच संशय के कारण हैं।

प्र०—प्रयोजन किसे कहते हैं ?

उ०—जिस उद्देय से मनुष्यों की प्रवृत्ति होती है, उसी को प्रयोजन कहते हैं।

प्र० —दृष्टांत किसे कहते हैं ?

उ० - जिस विषय में साधारण अर्थात लौकिक और उत्कृष्ट बुद्रि अर्थात परीक्षक लोगों का मतभेद नहीं होता है, उसका नाम दृष्टांत है।

प्र०—सिद्धांत किसे कहते हैं ?

उ० विषय का जो निश्चय है, उसे सिद्धांत कहते हैं।

प्र०---अवयव किसे कहते हैं ?

उ० --जिन शब्दों के अनुसार साध्यकी सिद्धि होती है, उसे न्याय कहते हैं न्याय का एक देश अवयव है। अवयव पाँच प्रकार का है [१] प्रतिज्ञा, [२] हेतु, [३] उदाहरण, [४] उपनय और [५] निगमन।

प्र०--तर्क किसे कहते हैं ?

उ० —जिस विषय का तथ्य मालूम नहीं हो रहा है, उस विषय में तथ्यज्ञान के वास्ते कारण की उपपत्ति के अनुसार एक पक्ष की जो संभावना होती है, उस को तर्क कहते हैं।

प्र० – निर्णय किसे कहते हैं ?

उ०—परपक्ष–दूषण और स्वपक्ष–स्थापन द्वारा अर्थ का निश्चय अर्थात् प्रमाण और तर्क का जो फल है, उसे निर्णय कहते हैं।

प्र०—वाद किसे कहते हैं?

उ०—तत्व–निर्णय के उद्देश्य से जो कथा प्रवर्तित होती है, उसे वाद कहते हैं।

प्र०—जल्प किसे कहते हैं?

उ०—तत्वनिर्णय के प्रति लक्ष्य न रखकर प्रतिपक्षी के पराजय और स्वपक्ष की जय के लिए जो शास्त्रार्थ प्रवर्तित होता है उस का नाम जल्प है।

उ०—वितण्डा किसे कहते हैं?

उ०—अपना कोई भी पक्ष न रख करके केवल परपक्ष के खण्डन के लिए जो शास्त्रार्थ होता है, उसे वितण्डा कहते है।

प्र०—हेत्वाभाव किसे कहते हैं?

उ०—दुष्ट हेतु का नाम हेत्वाभाव है। अर्थात् जो हेतु की तरह प्रतीत होता हो परन्तु वास्तव में हेतु न हो उसे हेत्वभाव कहते हैं।

प्र०—छल किसे कहते हैं?

उ०—जिस अर्थ के लिए वाक्य–प्रयोग करते हैं उसके विपरीत अर्थ कल्पना कर के दोष उद्भावन करने का नाम छल है।

प्र०—जाति किसे कहते हैं?

उ०—व्यावृत्ति की अपेक्षा न कर के केवल साधर्म्य और वैधर्म्य के बल से जो दोष निकाला जाय, उसे जाति कहते हैं।

प्र०—निग्रहस्थान किसे कहते हैं?

उ०—जिसके द्वारा विचारकार्य का विपरीत ज्ञान या प्रकृत विषय में अज्ञान प्रकाश होता है उसका नाम निग्रहस्थान है।

न्याय दर्शन के अनुसार इन सोलह पदार्थों के तत्वज्ञानसे मुक्ति होती है।

प्र०—न्यायदर्शन के अनुसार जगत् कैसा माना गया है।

उ०—न्याय दर्शन जगत् को परमाणु--आरम्भित संयोग-वियोगजन्य आकृति--विशेष मानता है।

प्र०—न्याय दर्शन ने जगत्का कारण क्या माना है

उ०—ईश्वरादि नो परमाणु जगत् के कारण बतलाए गये हैं।

प्र०—न्याय दर्शन के अनुसार ईश्वर किसे कहते हैं?

उ०—"ईश्वरःकारणं पुरुषकर्म्माफल्यदर्शनात्।" [न्या. सू. ४।१।१९]

मनुष्य के कर्मों के फल जिस के हाथ में हैं वही ईश्वर है।

प्र० संसार में जीवके बद्ध होनेका कारण क्या है?

उ०—अज्ञान ही बन्धनका कारण है।

प्र०—न्याय दर्शन किस वाद में गर्भित है?

उ०—न्याय दर्शन आरम्भवाद में गर्भित है।

प्र०—आरम्भवाद किसे कहते हैं?

उ०—जैसे कि किसी प्राचीन भवन के नाश होने पर उसकी ईंट पत्थर आदि सामुग्री से नवीन भवन का निर्माण होता है. वैसे ही सृष्टि के नष्ट होने पर उसके पंच तत्वों के परमाणुओं से (जो परमाणु ज्यों के त्यों वने रहते हैं) नई सृष्टि का आरम्भ होता है। सृष्टि का उपादान कारण परमाणु अर्थात् प्रकृति है और निमित्त कारण ईश्वर है। अपने रूप में परमाणु नित्य हैं। परमाणु जब आपस में मिल जाते हैं तब वे अनित्य और नाशवान् हो जाते हैं। संसार की सब वस्तुएँ इन्हीं-की बनी हुई हैं। संसार की उत्पत्ति का आरम्भ परमाणुओं के मिलने से होता है। इसलिए इस मतका नाम आरम्भवाद है। इसको ही पश्चिमात्य दार्शनिक (Atomic Theory) कहते हैं। परमाणु कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो, उसमें आकार और विस्तार अवश्य रहेंगे। जिस में आकार और विस्तार है उसके खण्ड अवश्य हो सकते हैं। क्योंकि आकार वाली वस्तु का अखण्ड होना कल्पना से परे है। आरम्भवाद में यह दोष है।

वैशेषिक दर्शन

प्र०—वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तन कौन हैं ?

उ०—वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद है। उस दर्शन के १० अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में दो २ आन्हिक हैं।

प्र०—वैशेषिक दर्शन का प्रतिपाद्य विषय क्या है ?

उ०—वैशेषिक दर्शन के अनुसार भी संसार दुःखमय है और आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति अर्थात् निःश्रेयसकी प्राप्ति तत्वज्ञानसे ही होती है।

प्र०—वैशेषिक दर्शन के अनुसार कौनसे तत्वज्ञान से निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है ?

उ०—**"धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।"** (वै. द. १।१।३)

वैशेषिक बतलाता है, कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य के ज्ञान से उत्पन्न हुए तत्वज्ञान से निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है।

प्र०—द्रव्य किसे कहते हैं ?

उ०—द्रव्य [Substance] ९ प्रकार के हैं। [१] पृथ्वी, [२] आप, [३] तेज, [४] वायु, [५] आकाश, [६] काल, [७] दिक् (दिशा), [८] आत्मा और [९] मन ये नौ द्रव्य हैं। पृथ्वी, अप् तेज और वायु ये नित्य और अनित्य भेदसे दो प्रकार के हैं। ये परमाणु रूप में नित्य और परमाणुसंघातसे उत्पन्न शरीर, इन्द्रिय और विषय रूप में अनित्य हैं। वैशेषिकके मतमें ये चार प्रकारके परमाणु और आकाश आदि अन्य पांच द्रव्य नित्य हैं। आत्मा ज्ञानका आश्रय है। मनके द्वारा आत्मका प्रत्यक्ष होता। आत्मा विभु है पर अनेक है। हर शरीर में भिन्न २ आत्मा है। वैशेषिकके मतमें मन अणु है। मन ही सुख, दुःख और आत्मा के प्रत्यक्ष करनेका कारण है। द्रव्य गुणका आश्रय है। गुण शून्य होकर द्रव्य नहीं रह सकता।

प्र०—गुण किसे कहते हैं ?

उ०—जिस पदार्थ में गुणत्व जाति है, उसे गुण [Attributes] कहते हैं। गुण चोवीस प्रकार के हैं—(१) रूप, (२) रस, (३) गन्ध (४) स्पर्श, (५) शब्द, (६) संख्या, (७) परिणाम, (८) पृथक्त्व, (९) संयोग, (१०) विभाग, (११) परत्व, (१२) अपरत्व, (१३) बुद्धि, (१४) सुख, (१५) दुःख, (१६) इच्छा, (१७) द्वेष, (१८) यत्न, (१९) गुरुत्व, (२०) द्रवत्व, (२१) संस्कार, (२२) स्नेह, (२३) धर्म, (२४) अधर्म। गुणों में परिणाम चार प्रकारका है, अणु, महत् ह्रस्व और दीर्घ।

प्र०—कर्म कितने हैं ?

उ०—कर्म्म ५ प्रकार के हैं—[१] उत्क्षेपण [ऊपरको फेंकना] [२] अवक्षेपण [नीचेको फेंकना] [३] आकुंचन [४] प्रसारण और [५] गमन।

प्र०—सामान्य किसे कहते है ?

उ०—(सामान्य) जाति दो प्रकारकी है—(१) परा और (२) अपरा; अधिक-देशवृत्तिको अपरा कहते है। मनुष्यत्व, अश्वत्व और गोत्व जाति के मुकाबले में प्राणित्व जाति परा है।

प्र०—विशेष किसे कहते हैं ?

उ०—जिस असाधारण धर्म के द्वारा निरवयव पदार्थों की परस्पर भेद-सिद्धि होती है, उसी का नाम विशेष है। द्वयणुकसे लेकर घटादि तक समस्त सावयव द्रव्यों का परस्पर भेद अपने अवयव-भेदसे सिद्ध होता है परन्तु जिस धर्मके द्वारा निरवयव एक जातिके दो परमाणुओं में पारस्परिक भेद सिद्ध होता है, उसीका नाम विशेष है।

प्र०—समवाय किसे कहते हैं ?

उ०—नित्य सम्बन्ध का नाम समवाय है। तन्तुके साथ वस्त्रका जो सम्बन्ध है, गुणके साथ गुणीका जो सम्बन्ध है, क्रियाके साथ द्रव्यका जो सम्बन्ध है, जातिके साथ व्यक्तिका जो सम्बन्ध है वही समवाय कहलाता है।

प्र०—क्या वैशेषिक छह पदार्थों के अतिरिक्त कोई पदार्थ और भी मानते है ?

उ०—" द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां
षण्णां पदार्थानामभावसप्तमानाम्।"

वैशेषिक इन छह पदार्थों के अतिरिक्त अभाव नाम का एक पदार्थ और मानता है। इसी कारण वैशषिक दर्शन को सप्तपदार्थवादी भी कहते हैं।

प्र०—अभाव किसे कहते हैं?

उ०—अभाव दो प्रकार का है। एक संसर्गाभाव और दूसरा अन्योन्याभाव।

संसर्गाभाव तीन प्रकार का है—(१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव और (३) अत्यंताभाव। सूत्र में वस्त्र का प्रागभाव है। घट चूर्ग हो जाने से या देह भस्म हो जाने से पूर्व उस में उसका प्रध्वंसाभाव है, और जड में चेतन का अत्यंताभाव है।

अन्योन्याभाव—घोडा हाथी नहीं, घोडे में हाथी का जो अभाव है और हाथी में घोडे का जो अभाव है वही अन्योन्याभाव कहलाता है।

वैशेपिक दर्शन के अनुसार इन सप्तपदार्थों के तत्वज्ञान से ही मुक्ति होती है।

प्र०—वैशेषिक दर्शन के अनुसार जगत् कैसा माना गया है।

उ०—वैशेषिक दर्शन जगत् को परमाणु—आरम्भित संयोग-वियोगजन्य आकृतिविशेष मानता है।

प्र०— वैशेषिक के मत से जगत का कारण क्या है?

उ०—वैशेषिकदर्शक भी न्यायदर्शन के समान ईश्वरादि नो परमाणुओं को जगत् का कारण मानता है।

प्र०—संसार में जीव के बद्ध होने का कारण वैशेषिकदर्शन क्या मानता है?

उ०—वैशेषिकदर्शन भी बन्ध का कारण अज्ञान ही मानता है।

प्र०—वैशेषिकदर्शन किस वाद में गर्भित है?

उ०—वैशेषिकदर्शन भी आरम्भवाद में गर्भित है।

प्र०—निःश्रेयस की प्राप्ति में परमात्मा का क्या सम्बन्ध है?

उ०—न्याय और वैशेषिक दर्शन निःश्रेयस प्राप्त करने में परमात्मा का कोई सम्बन्ध नहीं मानते। जीव स्वयं अपने तत्वज्ञान से निःश्रेयस को प्राप्त होता है।

सांख्यदर्शन।

प्र०—सांख्यदर्शन के प्रवर्तक कौन हैं ?

उ०—सांख्यदर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल हैं। सांख्य की वर्तमान पुस्तक 'तत्वसमास' सांख्य–प्रवचनसूत्र छह अध्यायों में विभक्त हैं।

प्र०—सांख्यदर्शन का प्रतिपाद्य विषय क्या है ?

उ०—सांख्यदर्शन का आरम्भ भी दुःखवाद से होता है। संसार दुःखमय है। पुरुषार्थ के द्वारा दुःख दूर होता है। ज्ञान ही परम पुरुषार्थ है। ज्ञान के द्वारा मनुष्यों का दुःख नष्ट होकर उन्हें मुक्ति मिलती है।

"**ज्ञानान्मुक्तिः।**" [सांख्यसूत्र ३।२३]

ज्ञान से ही मुक्ति होती है। वह ज्ञान प्रकृति और पुरुष का पार्थक्यज्ञान है।

प्र०—सांख्यदर्शन दुःख कितने प्रकार का मानता है ?

उ०—"**त्रिविधं दुःखम्॥**" (तत्वसमास २९)

दुःख तीन प्रकार का है—(१) आध्यात्मिक, (२) आधिभौतिक, और (३) आधिदैविक। आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार का है—रोगादि से उत्पन्न हुआ शारीरिक दुःख, और (२) कामक्रोधादि से उत्पन्न हुआ मानसिक दुःख।

मनुष्य, पशु और स्थावर से पैदा हुए दुःख को आधिभौतिक दुःख कहते हैं।

शीत, गरमी और वर्षा आदि से जो दुःख होता है, उसे आधिदैविक दुःख कहते हैं।

प्र०—सांख्यामतानुसार दुःखनिवृत्ति का उपाय क्या है ?

उ०—सांख्यदर्शन के मत में दुःखनिवृत्ति का रामबाण उपाय ज्ञान-प्राप्ति है।

प्र०—ज्ञान किस बात का हो ?

उ०—प्रकृति और पुरुष का विवेक या पार्थक्यज्ञान होना चाहिए।

"**तद्विपरीतः श्रेयान्व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानात्।**" (सांख्यकारिका २)

प्रकृति और पुरुष का भेदसाक्षात्कार ही श्रेष्ठतर उपाय है। वह व्यक्त अर्थात् विकृति, अव्यक्त अर्थात् प्रकृति और ज्ञ अर्थात् पुरुष इन तीनों के विशेष ज्ञान से उत्पन्न होता है। सांख्यकारिका में कहा है कि:—

**" एवं तत्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ "**

तत्वों के पुनः २ अभ्यास करने से भ्रमरहित विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है, जिस से पुरुष को मालूम होता है कि वह प्रकृति का कर्ता भोक्ता कुछ भी नहीं, परंतु उस से बिलकुल अलग निष्क्रिय ज्ञानरूप और साक्षीरूप है । इस दशा में सुखदुःख दोनों का ही तिरोधान होता है । सांख्यसूत्र में कहा है:--

" नोभयञ्च तत्त्वाख्याने । "

तत्त्वों के साक्षात्कार होने से सुखदुःख दोनों ही नहीं रहते ।

प्र० - सांख्यदर्शन में कितने तत्व माने हैं ?

उ०---सांख्यदर्शन विकार सहित प्रकृति और पुरुष को लेकर २५ तत्त्व मानता है---

" सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः । प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकरः, अहंकारात्पंच तन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः । " [सांख्यसूत्र १।६१]

सत्त्व, रजस् और तमोगुणकी साम्यावस्थारूप मूलप्रकृति, उसका विकार महत्तत्त्व, महत् का विकार अहंकारतत्त्व अहंकार का विकार पञ्चतन्मात्रा, और ग्यारह इन्द्रियाँ, पञ्चतन्मात्रा का विकार पंचमहाभूत और पुरुष ये २५ तत्त्व हैं । तत्त्वसमास की भाषा में ८ तरह की प्रकृतियाँ, १६ विकार और १ पुरुष मिलकर २५ होते है ।

" अष्टौ प्रकृतयः, षोडश विकाराः पुरुषः । " [तत्वसमास १-२-३]

" अव्यक्तं बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि इत्येता अष्टौ प्रकृतयः "

[सूत्रवृत्ति]

अव्यक्त मूलप्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा ये आठ तरह की प्रकृतियाँ हुई । मूलप्रकृति ही मुख्य प्रकृति हैं ।

ः, अहङ्कार और पंचतन्मात्रा ही इन्द्रिय और महाभूत के उपादानकारण गौण प्रकृति कहाती है

प्र०—विकार कितने हैं ?

उ०—"**एकादशेन्द्रियाणि पंचभूताश्चैते षोडश विकाराः**"

[सूत्रवृत्ति ।]

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन ये ११ इन्द्रियाँ और पृथ्वी, आप्, तेज, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत कुल मिलकर सोलह विकार हुए।

प्र०—प्रकृति क्या है ?

उ०—"**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं, तथा च नित्यं रसगन्धवार्जितम् ।**
अनादिमध्यं महतः परं ध्रुवं, प्रधानमेतत्प्रवदन्ति सूरयः ॥"

प्रकृति नित्य, अव्यय, इंद्रियों और महत् तत्त्व के परे, आदिमध्यहीन और ध्रुव है।

"**अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।**"

(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

प्रकृति एक, अजा, त्रिगुणमयी और सजातीय विकारों की सृष्टि करने वाली है।

"**प्रकरोति इति प्रकृतिः ।**"

जिस उपादान से जगत् की सृष्टि हुई है वही प्रकृति है।

"**प्रकृतेराद्योपादानता ।**" [सांख्यसूत्र ६।३२]

प्रकृति ही जगत् का आद्य उपादान है।

जगत् का जो अपरिच्छिन्न निरवशेष और मूल उपादान है वहीं सांख्य की प्रकृति है। प्रकृति का आदि अंत नहीं है। प्रकृति का उत्पादक कोई नहीं है और प्रकृति सदैव नित्य है। प्रकृति अति सूक्ष्म है, अलिंग है और निरवयव अर्थात् निर्विशेष [Homogeneous] है। यह विपुल जगत् उसी का परिणाम है।

"**सूक्ष्ममलिंगमनादिनिधनं तथा प्रवसधार्मि ।**
निरवयवमेकमेवाहि साधारणमेतदव्यक्तम् ॥" [सूत्रवृत्ति]

प्रकृति का एक नाम अव्यक्त भी है। उस का अभिप्राय यही है कि सृष्टि से पहले जगत् अव्यक्त [Unmanifest] अवस्था में रहता है। अव्यक्तावस्था का नाम सृष्टि है। गीता में भगवान् कहते हैं—

" अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ " [गीता ८।१६]

अर्थात् प्रलय के अवसान में, अव्यक्त प्रकृति से व्यक्त जगत् का आविर्भाव होता है और सृष्टि के अवसान में व्यक्त जगत् फिर अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाता है ।

" अव्यक्तं कारणं यत् तन्नित्यं सदसदात्मकम् ।
प्रधानं प्रकृतिश्चेति यदाहुस्तत्त्वचिन्तकाः ॥ "

जगत् का जो अव्यक्त कारण है वह नित्य है, सत् है, और असत् भी है [क्योंकि वह अनादि और अनन्त होकर भी विकारशील है] तत्त्वज्ञानी उसी को प्रधान या प्रकृति कहते हैं ।

प्र०—प्रकृति से सृष्टि कैसे बनी ?

उ०—सांख्यमत से प्रकृति का स्वभाव ही परिणाम है । इसी लिए सांख्य-शास्त्र में प्रकृति का एक सार्थक विशेषण है ' प्रसवधर्मी ' । जहाँ प्रकृति है वहाँ ही परिणाम है । परिणाम के साथ प्रकृति का नित्य सम्बन्ध है ।

" परिणामस्वभावा हि गुणानापरिणम्य क्षणमप्यवतिष्ठंते । "
[तत्वकौमुदी]

परिणाम के बिना प्रकृति एक क्षण भी नहीं रह सकती । इसी लिए प्रकृति की साम्यावस्था में आप ही विच्युति हो जाती है । प्रकृति की साम्यावस्था बिच्युत होने पर जो पहला परिणाम होता है, उसे महत्तत्व कहते है । महत्तत्व भी विकार प्राप्त होने से नहीं रुक सकता । महत्तत्व के विकार का नाम अहंकारतत्व है । अहंकार से पंचतन्मात्रा और ग्यारह इन्द्रियाँ बनती हैं । पंचतन्मात्रा का विकार पंचमहाभूत हैं । इस प्रकार सृष्टि प्रकृति से स्वयमेव बनती है ।

प्र०—सृष्टि को प्रलय अवस्था में सांख्यमतानुसार प्रकृति किस हालत में रहती है ?

उ०—प्रकृति का नाम त्रैगुण्य भी है, क्योंकि आदि प्रकृति तीनों गुणों की साम्यावस्था है । इन तीन गुणों के नाम सत्व, रजस्, और तमस् हैं ।

" सत्वरजस्तमांसीति त्रैगुण्यम् । " [सूत्रवृत्ति]

जगत् की मूल उपादान प्रकृति में सत्व, रजस् और तमस् ये तीन विरोधी गुण एक दुसरे का पराभव करने की चेष्टा करते हैं। इस संग्राम में कभी सत्व विजयी होकर प्रकाश सुख या लघुता उत्पन्न करता है, कभी रजोगुण प्रबल होकर प्रवृत्ति, दुःख या चांचल्य उत्पन्न करता है, और कभी तमोगुण उत्कट होकर जडता, मोह, और गुरुत्व उत्पन्न करता है। ये तीन गुण प्रकृति की स्वभाव-सिद्ध तीन तरह की विरोधी प्रवणताएँ (Tendencies) हैं। तमस् (Resistance,) रजस् (Activity), और सत्व (Harmony)।

" सत्वं प्रकाशकं विद्यात् रजो विद्यात् प्रवर्त्तकम्।
तमोऽप्रकाशकं विद्यात् त्रैगुण्यं नाम संज्ञितम् ॥ "

प्रलयकाल में ये तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं। परिणामशील प्रकृति के दो तरह के परिणाम होते हैं; सदृश परिणाम और विसदृश परिणाम। प्रलय-काल में सदृश परिणाम होता है। अर्थात् सत्व सत्वरूप में, रजस् रजोरूप में, और तमस् तमोरूप में परिणत हो जाता है।

" प्रतिसर्गावस्थायां सत्त्वं च रजश्च तमश्च सदृशपरिणामानि भवन्ति, तस्मात् सत्त्वं सत्त्वरूपतया, रजो रजोरूपतया, तमस्तमोरूप-तया प्रतिसर्गावस्थायामपि प्रवर्तते। " तत्वकौमुदी।

सृष्टिकाल में विसदृश परिणाम होता है। जिसके फल से साम्यावस्था की विच्युति होकर महत्तत्त्व आदि का आविर्भाव होता है।

प्र० -सांख्यदर्शन में पुरुष का लक्षण क्या है?

उ०—सांख्यदर्शन पुरुष को अनादि, सूक्ष्म, सर्वव्यापी, चेतन, निर्गुण, नित्य, द्रष्टा, भोक्ता, अकर्ता, क्षेत्रज्ञ और अपरिणामी मानता है। तत्वसमास के वृत्तिकार ने पुरुष का परिचय निम्न भाँति दिया है--

" पुरुषोऽनादिः, सूक्ष्मः, सर्वगतश्चेतनोऽगुणो नित्यो द्रष्टा भोक्ता-ऽकर्ता क्षेत्रविदमलोऽप्रसवधर्मीति "

सांख्य के मत में प्रकृति और पुरुष दोनों ही नित्य अनादि, अपरिच्छिन्न और निष्क्रिय है। प्रकृति जड है और पुरुष चेतन है। प्रकृति परिणामी है और पुरुष

निर्विकार है। प्रकृति गुणमयी है और पुरुष निर्गुण है। प्रकृति दृश्य है और पुरुष द्रष्टा है। प्रकृति भोग्य है और पुरुष भोक्ता है। प्रकृति विषय है और पुरुष विषयी है। पुरुष कूटस्थ, केवल, सुखदुःख से अतीत, नित्य, मुक्त और असंग है।

प्र०---सांख्यदर्शन पुरुष को एक मानता है या अनेक ?

उ० --सांख्य दर्शन प्रकृति को एक और पुरुष को अनेक मानता है। हर एक पुरुष विश्वव्यापी है --

"**जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्।**" [सांख्यसूत्र १-१४९]

"**पुरुषबहुत्वम् व्यवस्थातः।**" [सांख्यसूत्र ६-४९]

पुरुष की अनेकता न मानने से जन्म आदि की व्यवस्था ठीक नहीं हो सक्ती---

"**जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च।**
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यं विपर्ययाच्च ॥" (सांख्यकारिका १८)

सकल जीवों का एक ही साथ जन्म मृत्यु या इन्द्रियों की विकलता या प्रवृत्ति नहीं दिखलाई देती। एक पुरुष में एक गुण प्रबल है और दूसरे में दूसरा प्रबल है इसी लिए पुरुष अनेक है।

प्र०---प्रकृति के परिणमनशील होने में पुरुष (ईश्वर) का भी कोई सम्बन्ध है या नहीं ?

उ०---सांख्यवादी ईश्वर को नहीं मानते। तत्वसमास और सांख्यकारिका में ईश्वर का जिक्र तक नहीं है। सांख्यप्रवचन-सूत्र में तो साफ २ ईश्वर का प्रतिषेध किया गया है। सांख्य के मत मे प्रकृति का परिणाम स्वयंसिद्ध है, उस के लिए प्रकृति किसी स्वतंत्र चेतनकर्त्ता या अधिष्ठाता [ईश्वर या ब्रह्म] की अपेक्षा नहीं करती। वास्तव में सांख्यशास्त्र सृष्टि के व्यापार में किसी विधाता के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं समझता। उस के मत में यह संभव ही नहीं, कि प्रकृति में प्रवृत्ति न हो। जिस तरह व्यापारहीन चुंबक के पास लोहा स्वयं ही खिंच जाता है उसी तरह निर्व्यापार पुरुष के पास होने के कारण प्रकृति में परिणाम होता है।

"**वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।**
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥" [सांख्यकारिका]

बच्चों के पोषण के लिए जिस तरह अचेतन दुग्ध की प्रवृत्ति होती है, उसी तरह पुरुष की मुक्ति के लिए अचेतन प्रकृति की भी प्रवृत्ति हुआ करती है।

प्र०—सांख्यमतानुसार संसार में जीव के बंध का हेतु क्या है?

उ०—प्रकृति-पुरुष के भोग्यभोक्तृभाव अर्थात् जीव के बन्धन का कारण अविवेक है—

" अविवेकनिमित्तो वा स्वस्वामिभाव इति पंचशिख आह।"

प्रलय में भी यही अविवेक वासनारूप में पुरुष के साथ रहता है और यही वासना सृष्टिकाल में प्रकृति के साथ भोग्य-भोक्तृ-भाव निष्पन्न करती है।

प्र०—सांख्यमतानुसार जगत् का कारण क्या है?

उ०—प्रकृति त्रिगुणात्मक होने के कारण सत्व, रजस् और तमस् के संघर्षण से जगत् की उत्पत्ति होती है।

प्र०—सांख्यदर्शन किस वाद में गर्भित है?

उ०—सांख्यदर्शन परिणामवाद में गर्भित होता है।

प्र०—परिणामवाद किसे कहते हैं?

उ०—परिणाम का अर्थ रूपान्तर होना है। जैसे दूध का परिणाम दही है। एक ही वस्तु रूपान्तर होने से दूसरी दिखाई देने लगे तो वह परिणत हुई कहलाती है। जगत् वैसे ही प्रकृति का परिणाम है, जैसे दही दूध का परिणाम है। इस प्रकार के मत को परिणामवाद कहते हैं।

योगदर्शन।

प्र०—योगदर्शन के प्रणेता कौन हैं?

उ०—योगदर्शन के प्रणेता भगवान् पतञ्जलि हैं।

प्र०—योगदर्शन कितने अध्यायों में विभक्त है?

उ०—योगदर्शन चार अध्यायों में विभक्त है, जिन्हें पाद कहते हैं। [१] समाधिपाद, [२] साधनपाद, [३] विभूतिपाद, और [४] कैवल्यपाद।

प्र०—सांख्य और योग दर्शन में क्या फरक है?

उ०—योगदर्शन का दूसरा नाम सांख्यप्रवचन भी है। इसका कारण यही है कि भगवान् पतञ्जलि ने सांख्यदर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल के दार्शनिक सिद्धान्तों को ग्रहण और अंगिकार कर लिया है। सांख्योक्त २५ तत्व इस दर्शन में भी माने गये हैं। परन्तु पतञ्जलि ने इसके सिवाय और एक तत्व का प्रचार किया है। वह तत्व ईश्वर है। ईश्वर सांख्योक्त पुरुष नहीं है, परन्तु पुरुष विशेष है। इसी लिए यदि पातञ्जलदर्शन में से ईश्वर तत्व और चित्तनिरोध के उपाय निकाल लिये जायँ तब उस में फिर कोई ऐसी बात नहीं रहती जिस से उस में और सांख्यदर्शन में भेद दिखाया जा सके।

प्र०—यह ईश्वर तत्व क्या है?

उ०—पतञ्जलि ने ईश्वर का यह लक्षण किया है

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ १।२४ ॥"

"तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। १।२५ ॥"

"स एव पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। १।२६ ॥" योगसूत्र]

जो पुरुषविशेष क्लेश, कर्मविपाक और आशय के सम्पर्कसे शून्य है, वह ईश्वर है।

उस में ज्ञान का चरम उत्कर्ष है, वह सर्वज्ञ है। काल के द्वारा अवच्छिन्न न होने से ब्रह्मादि का भी वह गुरु है।

प्र०—योगदर्शन का प्रतिपाद्य विषय क्या है?

उ०—योगदर्शन के मत में तत्व २५ हैं। परन्तु इन तत्वों की आलोचना करना इस दर्शन का मुख्य विषय नहीं है। ये तो केवल गौण प्रतिपाद्य विषय हैं। योग ही इस दर्शन का मुख्य विषय है। योग का स्वरूप, साधन, गौण फल विभूति और मुख्य फल कैवल्य का तत्वनिर्णय इस का प्रतिपाद्य विषय है। योग-दर्शन के मत में भी संसार दुःखमय है।

"दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।"

सांख्य के मत में २५ तत्वों के ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, परन्तु योग-दर्शन के अनुसार योग के द्वारा ही दुःख की अत्यंतनिवृत्ति अर्थात् मोक्षप्राप्ति होती है।

प्र०—योग किसे कहते हैं ?

उ०—"**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।**"

चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम योग है ।

प्र०—चित्त की कितनी अवस्थाएँ हैं ?

उ०—चित्त की पाँच तरह की अवस्थाएँ हैं—

[१] क्षिप्त [जब कि रजोगुण के आधिक्य से चित्त विशेष चंचल रहता है], [२] मूढ़ [जब कि तमोगुण के आधिक्य से चित्त मोहाच्छन्न रहता है], [३] विक्षिप्त [जब कि सत्वगुण के उद्वेग से चित्त कभी स्थिर और कभी अस्थिर रहता है], [४] एकाग्र [जब ध्येय वस्तु में चित्त लग जाता है], और [५] निरुद्ध [जब कि वृत्ति का निरोध होकर केवल वृत्ति का संस्कार अवशिष्ट रह जाता है]। क्षिप्त और मूढ़ चित्त के लिये योग असम्भव है । विक्षिप्त चित्त को **क्रियायोग**-द्वारा एकाग्र बनाना होता है । एकाग्र चित्त होने पर साधक योग का अधिकारी बन जाता है । क्यों कि एकाग्र और निरुद्ध चित्त ही योग के अधिकारी हैं ।

प्र०—क्रियायोग किसे कहते हैं ?

उ० "**तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।**"

[यो. सू. साधनपाद १]

तपस्या, स्वाध्याय, और ईश्वरप्रणिधान को क्रियायोग कहते हैं । तपाचरण, स्वाध्याय—ओंकारादि मंत्रजप और मोक्षशास्त्र का अध्ययन, ईश्वरप्रणिधान—ईश्वर में समस्त कर्मों का अर्पण [फलसन्यास] ।

इस क्रियायोग के अनुष्ठान से समाधि की प्राप्ति होती है, और अविद्यादि पाँच क्लेश हीनबल हो जाते हैं ।

"**समाधिभावनार्थः क्लेशतनुकरणार्थश्च ।**" [२।२।सूत्र]

"**सहि आसेव्यमानः समाधिं भावयति क्लेशांश्च प्रतनुकरोति ।**"

[व्यासभाष्य]

प्र०—चित्त की वृत्तियाँ कितनी हैं ?

उ०---चित्त की वृत्तियाँ ५ तरह की हैं--प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, और स्मृति। इसी प्रकार चित्त की वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट ऐसे दो भेद से और भी विभक्त हैं। साधारणतया राजस और तामस वृत्ति क्लिष्ट और सात्विक वृत्ति अक्लिष्ट है।

प्र०—चित्तवृत्ति के निरोध से पुरुष [आत्मा] पर क्या परिणाम होता है ?

उ०---चित्त के साथ पुरुष का संयोग होने से चित्त में वृत्तियों का उदय होता है। पुरुष स्वच्छ है, केवल है, निर्गुण है और सुख दुःख से अतीत है। जिस तरह स्वच्छ स्फटिक के पास लाल चीज लाने से स्फटिक लाल हो जाता है, नीली चीज लाने से नीला हो जाता है, वास्तव में स्फटिका कोई वर्ण नही, सिर्फ उपाधि का वर्ण उस मे लक्षित हो जाता है, इसी तरह केवल निर्मल पुरुष में जब सुख-दुःख, मोह आदि चित्तवृत्तियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं, तब पुरुष उन के साथ सारूप्य लाभ कर के अपने को सुखी दुखी मान लेता है, वास्तव में पुरुष में सुख-दुःख कुछ नहीं है। यह सब कुछ वृत्ति का उपराग मात्र है। योगद्वारा चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध होने पर फिर उनकी छाया पुरुष में नहीं पडती। उस समय पुरुष स्वरूप में अवस्थान करता है अर्थात् सत्-चित्-आनन्द स्वरूप बन जाता है।

"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। वृत्तिसारूप्यमितरत्र।"

[१।३।४ योगसूत्र]

प्र०---चित्तवृत्ति के निरोध का उपाय क्या है ?

उ०—"**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।**" [१।१२ योगसूत्र]

अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध हो सकता है। स्वरूप में स्थित होने के लिए यत्न करना अभ्यास है, दृष्ट और अदृष्ट विषयों में वितृष्णा का नाम वैराग्य है।

प्र०---समाधिसिद्धि के लिए अभ्यास और वैराग्य के अतिरिक्त और क्या उपाय योगदर्शन में कहे गये हैं ?

उ०---निम्नलिखित और भी उपाय हैं--

"**ईश्वरप्रणिधानाद्वा**" [१।२३ योगसूत्र]

ईश्वरभक्ति के द्वारा भी समाधिलाभ होता है ।

" **मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।"** [१।३३ सूत्र]

सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापी के विषय में क्रमपूर्वक मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना से चित्त को शान्ति होती है । उसके फल से भी चित्त में एकाग्रता होकर स्थैर्य की प्राप्ति होती है ।

" **प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।"** [१-३४ सूत्र]

प्राणवायु के निःसारण और धारण के द्वारा भी चित्त की स्थिरता होती है ।

" **विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ।"** [१-३५ सूत्र]

रूप, रस, गन्ध, आदि किसी इन्द्रिय के विषय में मुग्ध न होकर उस में चित्त की धारणा करने से चित्त स्थिर होता है ।

" **विशोका वा ज्योतिष्मती ।"** [१-३६ सूत्र]

शोकरहित सात्विक प्रकृति की ज्योति में भी चित्त का धारण करने से चित्त शान्त होता है ।

" **वीतरागविषयं वा चित्तम् ।"** [१-३७ सूत्र]

वीतराग पुरुषों का ध्यान करने से भी चित्त स्थिर होता है ।

" **स्वप्ननिद्राज्ञानावलम्बनं वा ।"** [१-३८ सूत्र]

स्वप्न व सषुप्ति के बीज की दशा में ज्ञान रखने से चित्त स्थिर होता है ।

" **यथाभिमतध्यानाद्वा ।"** [१-३९ सूत्र]

प्रकृति के अनुकूल ध्यान करने से भी चित्त स्थिर होता है ।

प्र०—योग के कितने अंग हैं ?

उ० –**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।"** [२-२९ सूत्र]

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग हैं । इन में यम, नियम, आसन, प्रणायाम और प्रत्याहार ये पाँच बहिरंग हैं, और धारणा, ध्यान, और समाधि ये तीन अन्तरंग हैं ।

प्र०—यम किसे कहते हैं ?

उ०—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (विषय का ग्रहण न करना) ये पाँच यम कहलाते हैं।

प्र०—नियम किसे कहते हैं ?

उ०—शौच (भीतरी और बाहरी शुद्धि), संतोष, तपस्या, स्वाध्याय, और ईश्वरप्रणिधान ये पाँच नियम कहलाते हैं।

प्र०—आसन किसे कहते हैं ?

उ०—पद्मासन, वीरासन आदि ८४ आसन हैं। तथापि

" **स्थिरसुखमासनम्।** " [२-४६ सूत्र]

जिस से मन निश्चल रहे और शरीर में कोई कष्ट न हो ऐसी शारीरिक स्थिति सुखासन कहलाता है।

प्र०—प्राणायाम किसे कहते हैं ?

उ०—प्राणवायु के संयम को प्राणायाम कहते हैं। यथा—

" **श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः** " (२-४९ सूत्र)

प्र०—प्रत्याहार किसे कहते हैं ?

उ०—इन्द्रियों के निरोध का नाम प्रत्याहार है।

प्र०—धारणा किसे कहते हैं ?

उ०—एक जगह चित्त के धारण करने को धारणा कहते हैं।

" **देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।** " [३-१ सूत्र]

प्र०—ध्यान किसे कहते हैं ?

उ०—चित्तवृत्ति के एकाग्र प्रवाह का नाम ध्यान है।

" **तत्रप्रत्ययैकतानता ध्यानम्।** " [३-२ सूत्र]

प्र०—समाधि किसे कहते हैं ?

उ०—ध्यान परिपक्व होकर जब ध्येयाकार में परिणत हो जाता है, और चित्तवृति होते हुए भी न होती हुई सी दिखाई देती है, उसी अवस्था का नाम समाधि है।

" **तदेवार्थमात्र निर्भास स्वरूपशून्यमिव समाधिः।** " [३-३ सूत्र]

"ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेम शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात् तदा समाधिरित्युच्यते ।" [३-३ सू.व्यासभाष्य]

प्र०—समाधि कितने प्रकार की है ?

उ०—समाधि दो प्रकार की है—

(१) सविकल्प और (२) निर्विकल्प । इस को ही सबीज और निर्बीज या सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं । सविकल्प समाधि में चित्त का सहारा रहता है । उस अवस्था में चित्त की सूक्ष्म सात्विक वृत्ति तिरोहित नहीं होती । निर्विकल्प समाधि में चित्त की समस्त वृत्तियाँ तिरोहित हो जाती हैं ।

प्र०—सविकल्प से निर्विकल्प समाधि प्राप्त करने में कोई बाधक कारण तो उपस्थित नहीं होता ?

उ०—सविकल्प और निर्विकल्प, इन दोनो दशाओं के बीचमें एक योग-विघ्न होता है, जिसका नाम भवप्रत्यय है । कोई २ साधक चित्त को एकाग्र करता हुआ अन्त में उस को प्रकृति के ही सूक्ष्म भाव में लय कर देता है । इस प्रकार से प्रकृति-विलीन चित्त को बुद्धिप्रतिबिम्बित चैतन्य का आभास-सुख मिलने लगता है । वह साधक उस प्रतिबिम्बित सुख को ही वास्तविक मानकर वर्षों तक जड समाधिस्थ रहता है । तथा साधनावस्था में योगाभ्यास के फल से योगी में कुछ अलौकिक शक्तियों का संचार होता है । इन्हीं को सिद्धि कहते हैं । ये सिद्धियाँ योग की साधना में साधक नहीं बल्कि बाधक हैं ।

"ते समाध्युपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ।" [३।३२ सूत्र]

प्र०—योगदर्शन के अनुसार निर्विकल्प समाधि प्राप्त होने पर कौनसी अवस्था प्राप्त होती है ?

उ०—निर्विकल्प (निर्बीज) समाधि या योग के प्राप्त होने पर पुरुष का स्व-स्वरूप में अवस्थान होता है । तब पुरुष (आत्मा) शुद्ध-मुक्त कहा जाता है । इसी का नाम कैवल्यसिद्धि है । योगदर्शन का यही चरम लक्ष्य है ।

"तस्मिन्निवृत्तेः पुरुषः स्वरूपमातिष्ठः अतःशुद्धो मुक्त इत्युच्यते ।"
(१।५१ सूत्र पर व्यासभाष्य)

"सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ।" (३-५५ सूत्र)

" ज्ञानाद्दर्शनं निवर्तते, तस्मिन्निवृत्ते न सन्तीतरे क्लेशाः, क्लेशाभावात् कर्मविपाकाभावः, चरिताधिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणा न पुरुषस्य पुनर्दृश्यत्वेनोपतिष्ठन्ते, तत्पुरुषस्य कैवल्यं, तदा पुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली भवति ।" (३।५९ सूत्रपर व्यासभाष्य)

अर्थात् ज्ञान उत्पन्न होने पर अदर्शन (अविद्या) की निवृत्ति हो जाती है, अविद्या की निवृत्ति के साथ साथ पाँच तरह के क्लेशों की भी निवृत्ति हो जाती है। क्लेशों के निवृत्ति हो जाने से कर्मों का परिपाक नहीं होता और इसी लिए वे (कर्म) किसी तरह के फल उत्पन्न नहीं कर सकते। इस अवस्था में पहुँचने पर प्रयोजन सिद्ध हो जानेपर प्रकृति फिर पुरुष को दिखाई नहीं देती। पुरुष उस समय केवली (स्वतंत्र) हो जाता है और निर्मल ज्योतिःस्वरूप में अवस्थान करता है।

पूर्व-(कर्म-)-मीमांसादर्शन ।

प्र०—पूर्वमीमांसा के प्रवर्तक कौन हैं ?

उ०—महर्षि जैमिनि इसके प्रवर्त्तक हैं। इस में १२ अध्याय हैं। इस में यज्ञ, अग्निहोत्र, दान आदि विषय वर्णित हैं।

प्र०—इस का प्रतिपाद्य विषय क्या है ?

उ०—पूर्वमीमांसादर्शन के मत में वेद का कर्मकाण्ड ही सार्थक है। ज्ञानकाण्ड निरर्थक है—

" आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् । "

[मीमांसासूत्र १-२-१]

वेद कर्म को ही प्रतिपादन करता है। इस लिए उस में जितना ज्ञान का अंश दिखाई देता है, वह सब निरर्थक है। जैमिनि मुनि का सिद्धान्त है कि वेद में जो तत्वज्ञान का उपदेश किया गया है, उस का उद्देश्य देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित करके जीव को अदृष्ट स्वर्ग आदि के साधनरूप यज्ञयाग में प्रवृत्त करना है।

प्र०—पूर्वमीमांसा का ध्येय क्या है ?

उ०—पूर्वमीमांसा-दर्शन स्वर्ग प्राप्त करना ही जीव का अत्युच्च ध्येय मानता है।

प्र०—पूर्वमीमांसा के मत में स्वर्ग कैसा है ?

उ०—स्वर्ग सब सुखों का धाम है। उस जगह दुःख का लेश भी नहीं। वहाँ इच्छा करते ही सुख मिल जाता है।

" यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतञ्च तत्सुखं स्वः पदास्पदम्।"

जिस सुख के साथ दुःख मिला हुआ नहीं है, जिस के परिणाम में दुःख नही होता है और जो इच्छा मात्र से ही प्राप्त होता है, वही सुख स्वर्ग में मिलता है।

प्र०—स्वर्गसुखप्राप्ति का मार्ग क्या है ?

उ०—पूर्वमीमांसा वेद में कहे गये यज्ञयागादि को ही स्वर्गप्राप्ति का मार्ग मानता है।

" स्वर्गकामो यजते।" " यजतेर्जातमपूर्वम्।" " अपाम सोमममृता अभूम।"

" अक्षय्यं हिवै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति, सर्व्वान् लोकान् जयति, मृत्युं तरति, पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां तरति, योऽश्वमेधेन यजते।"

स्वर्गप्राप्ति के लिए अनुष्ठान करो। यज्ञद्वारा अमृतत्व लाभ होता है। हम लोग सोमपान कर के अमर हो गये हैं। चातुर्मास याग करने वाले को अक्षय पुण्य लाभ होता है। अश्वमेध यज्ञ करने वाले समस्त लोगों को जय करते हैं, एवं मृत्यु, पाप और ब्रह्महत्या से उत्तीर्ण होते हैं। इस प्रकार वेदविहित कर्म करने से ही मनुष्य स्वर्ग अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है।

प्र०—पूर्वमीमांसा के मत में बन्ध-हेतु क्या है ?

उ०—वेदविहित यज्ञ यागादि के विरुद्ध कर्म करने से संसारी जीव बद्ध होता है।

प्र०—पूर्वमीमांसादर्शन का ईश्वर के विषय में क्या मत है ?

उ०—पूर्वमीमांसादर्शन निरीश्वरवादी है। वह वेद को नित्य और अभ्रान्त जरूर मानता है, पर वेद ईश्वरवाक्य है यह बात स्वीकार नहीं करता। जगत् का कोई बनानेवाला, रक्षा करनेवाला है, यह बात वह स्वीकार नहीं करता। उस के मत में जीव अपने कर्मों के अनुसार फल भोगता है। उस में ईश्वर का कोई सम्पर्क नहीं है। यज्ञयागादि कर्म ही सब कुछ है।

प्र०—इस निरीश्वरवादी, ज्ञानविरोधी, हिंसात्मक यज्ञ-आदि कार्यप्रवर्तक पूर्व-मीमांसादर्शन के प्रचलित होने से वैदिक धर्म पर क्या परिणाम हुआ ?

उ०—कर्ममीमांसा के अनुसार यज्ञयागादि की प्रवृत्ति अधिक बढ़ने से देश में धर्म के नाम पर हिंसा अधिक बढने लगी और ज्ञान का विरोध होने लगा। यह देख कर तत्वजिज्ञासु और सात्विक प्रवृत्ति के लोगों के हृदय में कर्ममीमांसा के कारण वैदिक धर्म से घृणा और तिरस्कार बढ़ने लगा। इस प्रकार सनातन धर्म का स्वरूप विकृत होने से उस विकृति को दूर करने के लिए जैन धर्म का प्रचार हुआ।

जैन-दर्शन

प्र०—जैनदर्शन के प्रवर्तक कौन हैं ?

उ०—जैनदर्शन के मूलप्रवर्तक श्रीऋषभदेव हैं। यह जैनधर्म के प्रथम तीर्थङ्कर हैं। इन के बाद २३ तीर्थंकर और हुए। उन में सब के पीछे चोबीसवे तीर्थङ्कर भगवान महावीर थे। वे ही वर्तमान जैनधर्म के अन्तिम प्रवर्तक हैं।

प्र०—जैनदर्शन का प्रमाणग्रन्थ कौनसा है ?

उ०—जैनदर्शन, कुरान और बायबल आदि के समान किसी खास ग्रन्थ को प्रमाण नहीं मानता। जैनदर्शन ज्ञान को ही मुख्यतया प्रमाण मानता है। तथापि श्रीमहावीर की दिव्य ध्वनि द्वादशाङ्गश्रुतज्ञान के रूप में प्रकट हुई थी। कालान्तर में द्वादशाङ्गश्रुतज्ञान लुप्त होने लगा और अंशरूप में रह गया। वही अंश वर्तमान जैनसाहित्य में शिष्यपरंपरा से संगृहीत है। अतएव जैन लोग पूर्वापरविरोधरहित सभी जैनसाहित्य को परोक्षप्रमाण के रूप में मानते हैं।

प्र०—जैनदर्शन संसार को कैसा मानता है ?

उ०—जैनदर्शन भी संसार को दुःखमय मानता है।

प्र०—जैनदर्शन के अनुसार दुःखनिवृत्ति के लिए क्या उपाय हैं ?

उ०—जैनदर्शन "**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।**"

सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य इन तीनों (रत्नत्रयी) की एकता को मोक्ष का मार्ग मानता है।

प्र०—सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ?

उ०—"**तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।**"

तत्वों का यथार्थ रूप से श्रद्धान करना सम्यक्-दर्शन है और ऐसा सम्यक् श्रद्धान पंचपरमेष्ठी (अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु) की भक्ति करने से हो सक्ता है। तत्वार्थश्रद्धान के पूर्व पंचपरमेष्ठी की भक्ति आवश्यक है। अर्थात् कारणरूप सम्यग्दर्शन पंचपरमेष्ठी की भक्ति और कार्यरूप सम्यग्दर्शन तत्वार्थश्रद्धान है। और आगे यही तत्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन आत्मा के अनिर्वचनीय और अगोचर सम्यक्त्वगुण के विकास का कारण हो जाता है। और आत्मा के सम्यक्त्वगुण का विकास कार्य समझा जाता है। इस प्रकार कारण कार्य या साधन साध्य रूप में सम्यक्दर्शन की व्यवस्था है।

प्र०—जैनदर्शन के अनुसार तत्व कौन २ से हैं और कितने हैं ?

उ०—जैनदर्शन मूल में तत्व को अनेकांत स्वरूप मानता है। अर्थात् सामान्य रूप से एक और विशेष रूप से अनेक। विशेष रूप से जैनदर्शन मूल रूप में दो द्रव्य मानता है जीव (चैतन्य) और अजीव (जड)। अजीव के पाँच प्रकार हैं—धर्म (गति), अधर्म (स्थिति), आकाश, काल और पुद्गल। इस प्रकार जीव (Soul), पुद्गल (Matter), धर्म (Medium of Motion), अधर्म (Medium of Rest), आकाश (Space) और काल (Time) ऐसे कुल ६ मूल द्रव्य अनादि, नित्य और अनंत हैं। इनका कोई कर्ता नहीं है। इन्हीं के समुदाय को लोक या जगत् कहते हैं। इन षड्द्रव्यों का कभी विनाश नहीं हो सक्ता, परन्तु अवस्था बदलती रहती है। उत्पत्ति, स्थिति, और विनाश इन तीन गुणों से युक्त ही द्रव्य कहलाते हैं।

" **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।** "

" **सत्द्रव्यम्** " अर्थात् सत्‌रूप मूल वस्तु की द्रव्य संज्ञा है, और द्रव्य का लक्षण गुणपर्यायस्वरूप है—

" **गुणपर्यायवद्‌द्रव्यम् ।** "

तत्व सात प्रकार के हैं—

" **जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम् ।** "

जीव (आत्मा), अजीव (धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल) आश्रव (आत्मा में कर्मपरमाणुओं का आगमन), बन्ध (कर्मपरमाणुओं की आत्मा के साथ प्रगाढ सम्बन्धता या एक प्रकार का आवरण-जाल-पटल), संवर (आत्मा में आते हुए कर्मपरमाणुओं की रुकावट), निर्जरा (आत्मा में पूर्वसंचित कर्मावरण का क्षय) और मोक्ष ।

इन सात तत्वों का यथार्थश्रद्धान (दर्शन) हो जाना सम्यक्‌दर्शन है । इन तत्वों के श्रद्धान से ही आत्म-अनात्म (स्व-पर) का भेद-विज्ञान होकर ध्येयसिद्धि होती है ।

प्र०—सम्यक् ज्ञान क्या है ?

उ०—ज्ञान आत्मा का विशेष गुण (स्वभाव) है । जिस प्रकार अग्नि का गुण उष्णता है, उसी प्रकार ज्ञान आत्मा का खास गुण है । यद्यपि गुण और गुणी में भेद नहीं तथापि ज्ञान गुण का प्रदर्शक है और आत्मा से गुणी का बोध होता है। उक्त ज्ञान दो प्रकार का है—मिथ्या और सम्यक् । मिथ्यात्वयुक्त ज्ञान का अभाव ही सम्यक् ज्ञान है ।

प्र०—मिथ्याज्ञान किसे कहते हैं ?

उ०—मिथ्यात्व-(मोह-)-युक्त ज्ञान मिथ्याज्ञान है । अर्थात एकांत, संशय और विपरीत इत्यादि बुद्धि से जो ज्ञान उपार्जन हो वह मिथ्याज्ञान है । और यह मिथ्याज्ञान मोह-(माया-)-रूपी आवरण के सबब आत्मा में होता है । इसी लिए मोहकर्म से बद्ध आत्मा (बहिरात्मा—मिथ्यादृष्टि) तत्व के यथार्थ स्वरूप को या अपने वास्तविक (सम्यक्) स्वरूप को नहीं जान कर एकांत, संशय और विपरीत इत्यादि रूप से अपने स्वरूप की कल्पना करता हुआ संसार में भ्रमण करता है ।

प्र०—एकान्त किसे कहते हैं ?

उ०—एकांत उसे कहते हैं, कि वस्तु के सम्पूर्ण अंश या गुण तथा अवस्था-से वास्तविक रूप में अनभिज्ञ रह कर उसके किसी अंश या गुण तथा अवस्था-विशेष को उस वस्तु का सम्पूर्ण अंश, गुण या अवस्था मान लेना। जैसे, हाथी-के अंगप्रत्यंगों को खंडशः अलग २ आकृति बना कर उन्हें, ऐसे बालकों को जिन्होंने हाथी कभी देखा ही नहीं, दिखलाने पर वे अलग २ आकृति के खंडशः रूप से ही हाथी के सम्पूर्ण अवयव और अवस्था की कल्पना कर लेते हैं और जब वे परस्पर हाथी के विषय में चर्चा करते हैं तो अपनी २ चित्राकृति के अनुसार हाथी का विवेचन करते हैं कि हाथी खंभे जैसा है, कोई कहता है नहीं छाज के जैसा है, इत्यादि। इसी प्रकार हरएक तत्वनिरूपण में एकांतदृष्टि रखने से तत्व का यथार्थ ज्ञान नहीं होता और परस्परविरोध बढ़ता है, तब पक्षपात के कारण एकांतवादी अपने २ सिद्धांतों को सत्य और दूसरों के सिद्धांतों को असत्य मानने लगते हैं। परन्तु ऐसे प्रत्येक एकांतवादी मिथ्यावादी है और उनका एकांतज्ञान भी मिथ्याज्ञान है।

प्र०—संशय और विपरीत किसे कहते हैं ?

उ०—किसी वस्तु या तत्व के यथार्थ स्वरूप में शंका करना संशयज्ञान, और उसके यथार्थ स्वरूप के बिलकुल विरुद्ध कल्पना करना विपरीत ज्ञान है; ये दोनों मिथ्या ज्ञान हैं। अतएव उपरोक्त मिथ्या ज्ञानों का अभाव ही सम्यक् ज्ञान है और सम्यक्-दर्शन के प्रादुर्भाव के साथ ही इस का प्रादुर्भाव होता है। अनेकांत (स्याद्वाद) की सहायता के बिना सम्यक्ज्ञान नहीं होता। सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति से ही आत्मा के ज्ञान का पूर्ण विकास होता है।

प्र०—स्याद्वाद किसे कहते हैं ?

उ०—स्याद्वाद यह एक विचारविज्ञान (विचार करने की एक प्रणाली या शास्त्र) है। जिस प्रकार व्याकरण शब्दशास्त्र है और व्याकरण से शुद्ध भाषा बोलने और लिखने का ज्ञान होता है, उसी प्रकार स्याद्वाद संशयवाद नहीं किन्तु दार्शनिक विचारों के परिमार्जन करने का और अनंत धर्मात्मक वस्तु (तत्व) को सर्वांगरूप से

समझने का शास्त्र है। जिस प्रकार शद्बसमूह असंख्य होकर भी व्याकरण में उसके सात विभाग हो जाते हैं, उसी प्रकार विचार भी असंख्य हैं और जितने विचार उतने ही नय (अपेक्षा, दृष्टि, पहलू) हैं। ये सम्पूर्ण पहलू सात नयों में (सप्त भंगों में) गर्भित हो जाते हैं। इन्हीं सप्त भंगों के जरीयेसे [सात प्रकार की सापेक्ष दृष्टि से] तत्व का सर्वांगपूर्णज्ञान हो जाता है।

प्र०—सम्यक् चारित्र्य किसे कहते हैं ?

उ०—सम्यक्-चारित्र आत्मा का स्वभावरूप में परिणमन है। आत्मा का स्वभाव-ज्ञान, दर्शन-स्वरूप है। आत्मा का ज्ञान-दर्शन-स्वभाव (गुण) अनादिकाल से कर्मावरण के कारण ढक गया है। अतएव कर्म नष्ट करने के लिए या आत्मा का पूर्ण विकास होने के लिए या आत्मा को स्वभाव में स्वतन्त्ररूप से परिणमन करने के लिए कारणरूप सम्यकचारित्र की जरूरत है बिना सम्यक्चारित्र के आत्मा पूर्णरूप से स्वतंत्र नहीं हो सक्ता।

कारणरूप सम्यक्चारित्र दो प्रकार का है— (१) अनागार (मुनि) के लिए (२) सागार (गृहस्थ) के लिए। गृहस्थावस्था में सम्यक्चारित्र अंश रूप से पाला जा सक्ता है और मुनि--अवस्था में सर्वांशरूप से पाला जाता है। कारणरूप सम्यक्चारित्र का लक्षण "अहिंसा" है। "अहिंसा" की सर्वांशपूर्ति के लिए ही सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है। अहिंसा के ही बाकी चार भेद हैं। इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का सम्पूर्णतया पालन मुनि--अवस्था में होता है। उस समय वे महाव्रत कहलाते हैं और गृहस्थ-अवस्था में अंशरूप पालन होता है। इस लिए उपरोक्त पंच महाव्रत अणुव्रत कहलाते हैं। अर्थात् अहिंसापालन के नियम ही कारणरूप चारित्र हैं।

इस प्रकार सम्यक्-दर्शन सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र इन तीनों की एकतासे ही मुक्ति होता है

बौद्ध-दर्शन।

प्र० बौद्धदर्शन के प्रवर्तक कौन हैं ?

उ०—बौद्धदर्शन के प्रवर्तक भगवान् बुद्धदेव हैं।

प्र०—बौद्धदर्शन के प्रादुर्भाव का कारण क्या है ?

उ०—पूर्वमीमांसकों की यज्ञयागादि में हिंसा जारी थी और जैनमुनियों में चरित्र-मार्ग अहिंसा-रूपपरिणति के लिए ऐसी अवस्था को पहुँच गया था, कि जिस का पालन करना सर्वथा असंभव हो गया था।

प्र०—बौद्धदर्शन का प्रमाण और मुख्य ग्रन्थ कौनसा है ?

उ०—बौद्धदर्शन का भी जैनदर्शन के समान ऐसा कोई खास ईश्वरप्रणीत ग्रन्थ नहीं है। तथापि भगवान् बुद्धदेव के उपदेशों का संग्रह शिष्यपरंपरा से "त्रिपिटक" नाम के मुख्य ग्रन्थ में है। "त्रिपिटक" के पाँच निकाय [बृहत् भाग] हैं—दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तर निकाय और खुदक निकाय। इस में बुद्ध का अपने शिष्य के साथ किया हुआ संवाद, तत्वज्ञान और धर्म के विषयों पर बुद्ध से किये गये प्रश्नों के उत्तर और शंकासमाधान वर्णित हैं।

प्र०—क्या बौद्धधर्म हिन्दूधर्म का एक दर्शन है ?

उ०—हाँ, बौद्धधर्म हिन्दूधर्म से अलग नहीं है। क्यों कि भगवान् बुद्ध हमेशा कहते आये हैं—

"**एष धम्म सनत्तनो।**"

प्र०—बौद्धधर्म संसार को कैसा मानता है ?

उ०—सब दर्शनों के समान बौद्धदर्शन का आरम्भ भी संसार दुःखमय है ऐसा मानकर होता है।

"**इदं खो पन भिक्खवे दुक्खं आरिय सच्चं। जातिपि दुक्खं, जरापि दुक्खो, व्याधिपि दुक्खो, मरणंपि दुक्खो, अपियेभिसंपयोगो दुक्खो, पियेभिविप्पयोगो दुक्खो, यं पिच्छंतं न लभंति तंपि दुक्खं, संखित्तेन पंचोपादानक्खन्धोपि दुक्खं।**"

हे भिक्षुओ, पहला आर्यसत्य दुःख है। जाति अर्थात् जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है, व्याधि भी दुःख है, मरण भी दुःख है, अप्रिय का मिलना भी दुःख है, प्रिय का बिछुडना भी दुःख है, जिस के लिए इच्छा की जाय और वह न मिले तो दुःख है, संक्षेप में पंचोपादानस्कंध ही दुःख है।

प्र०—बौद्धदर्शन इन दुःखों का कारण क्या मानता है ?

उ०—बौद्धदर्शन इन दुःखों का कारण तृष्णा मानता है ।

"हे भिक्षुगण, दुःखसमुदाय नामक दूसरा आर्यसत्य यह तृष्णा है, जो पुनर्भव का हेतु है । यह नंदिराग के साथ उत्पन्न हुई है और विषयों में अभिनंदन करनेवाली है । जैसे, कामतृष्णा, भवतृष्णा, विभवतृष्णा आदि । "

प्र०—जीवन दुःखमय बनानेवाली तृष्णा का किस प्रकार नाश करना चाहिए ?

उ०—तीसरा आर्यसत्य दुःखनिरोध है । अर्थात् तृष्णा, पूर्ण वैराग्य, प्रतिसर्ग, मुक्ति और अनालय है । इस लिए तृष्णा का निरोध पूर्ण वैराग्य से प्राप्त करना चाहिए ।

" इदं खो पन भिक्खवे दुक्खनिरोधं अरिय सच्चं ।
यो तस्सायेव तण्हाय असेसविरागं, निरोधी, चागो,
पटिस्सग्गो, मुत्ति, अनालो । "

प्र०—वैराग्य होने के उपरांत दुःख की आत्यंतिकनिवृत्ति के लिए किस मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए ?

उ०—**" इदं खो पन भिक्खवे दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरिय सच्चं । अयमेव अरिय सच्चं अट्ठंगिको मग्गो । सेय्यथेदं सम्मा दिट्ठि, सम्मा संकप्पो, सम्मा वाचा, सम्मा कम्मंतो, सम्मा आजीवो, सम्मा वायामो, सम्मा सत्ति, सम्मा समाधि । "**

बौद्धदर्शन के मतानुसार वैराग्य प्राप्त करलेने पर आत्यंतिकदुःखनिरोध के लिए आर्य अष्टांगिक मार्ग है—

(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वाचा, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति, और (८) सम्यक् समाधि ।

ये मध्यम प्रतिपदा कहलाते हैं ।

प्र०—बौद्धदर्शन ईश्वर को मानता है या नहीं ?

उ०—बौद्धदर्शन में ईश्वर की प्रधानता नहीं है और दुःखनिवृत्ति में ईश्वर का कोई सम्बन्ध ही नहीं माना है। ईश्वर का स्थान बौद्धदर्शन ने कर्म को दिया है, अर्थात् मनुष्य को सुःख-दुःख कर्म से ही मिलता है।

प्र०—बौद्धदर्शन के अनुसार दुःखों का निदान क्या है?

उ०—बौद्धदर्शन कार्यकारणरूप से अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, अपादान, भव, जाति और जरामरण इन १२ निदानों को प्रतीत्यसमुत्पाद कहता है और यही दुःख के कारण हैं।

प्र०—परलोक के विषय में बौद्धदर्शन का क्या मत है?

उ०—परलोक के विषय में बौद्धदर्शन में कुछ नहीं लिखा है और इस विषय-में विवाद करना फिजूल समझा गया है। इसी प्रकार जगत नित्य है या अनित्य, देह और आत्मा भिन्न हैं या अभिन्न इत्यादि प्रश्नों के विषय में भी मौन ही स्वीकृत किया गया है।

उत्तरमीमांसा (वेदान्त-दर्शन)।

प्र०—वेदान्तदर्शन के प्रवर्तक कौन हैं?

उ०—वेदान्तदर्शन के प्रवर्तक महर्षि बादरायण [वेदव्यास] हैं। ब्रह्मसूत्र कुल मिलाकर ५५६ हैं। वे चार अध्यायों में विभक्त हैं और प्रत्येक अध्याय में चार २ पाद हैं।

प्र०—वेदान्तदर्शन के प्रमाण ग्रन्थ कौन २ हैं?

उ०—ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, और गीता। इन को ही प्रस्थानत्रयी कहत हैं।

प्र०—वेदान्तदर्शन के अन्तरंगभेद कितने हैं?

उ०—अद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, और द्वैत ये पांच भेद हैं

अद्वैत-दर्शन।

प्र०—अद्वैतमत के प्रधान आचार्य कौन हैं?

उ०—श्रीमच्छंकराचार्य अद्वैतमत के प्रधान आचार्य हैं।

प्र०—अद्वैतमत का प्रतिपाद्य विषय क्या है?

उ०—अद्वैतमत केवल ब्रह्म को ही सत्य मानता है। ब्रह्म के सिवाय और सब मिथ्या मानता है।

प्र०—अद्वैतमतानुसार जीव क्या है?

उ०—अद्वैतमत में जीव ब्रह्म ही है।

" जीवो ब्रह्मैव नापरः । "

" नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्यस्वभावं प्रत्यक्चैतन्यमेव आत्मतत्त्वम् । "

[वेदान्तसार]

जीव शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और सत्यस्वभाव है।

" तत्त्वमसि ", " अयमात्मा ब्रह्म ", " सोऽहम् ", " अहंब्रह्मास्मि ",

तू ही वह है; यह आत्मा ही ब्रह्म है; मैं ही वह हूँ; मैं ब्रह्म हूँ। जीव ब्रह्म का सजातीय पदार्थ हो यह बात नहीं, किन्तु जीव ही ब्रह्म है। जीव और ब्रह्म में कोई भेद ही नहीं।

" जीवात्मनोरनन्यत्वं अभेदेन प्रशस्यते ।
नानात्वं निंद्यते यच्च तदेव हि समञ्जसम् ॥ "

[माण्डुक्य कारिका ३-१३]

प्र०—वेदान्तदर्शन किस वाद में गर्भित है?

उ०—वेदान्तदर्शन कई वादों में गर्भित है। जैसे विवर्तवाद, अवच्छेदवाद, आभासवाद, प्रतिबिम्बवाद, एकजीववाद और नानाजीववाद इत्यादि। विवर्त का अर्थ कल्पित कार्य है। जो वस्तु हो नहीं, लेकिन दिखाई दे, जैसे रज्जु अंधेरे में सर्प दिखलाई देने लगती है, यहाँ सर्प रज्जु का विवर्त है, अर्थात् कल्पितरूप है। इस प्रकार ब्रह्म अधिष्ठान से विषमसत्तावाला अन्यथारूप जगत् दिखलाई देता है, वास्तव में कुछ नहीं है, कल्पना मात्र है।

" एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ " [ब्रह्मबिन्दु १२]

" यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान् अपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् ।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ॥ "

एक ही भूतात्मा भूत भूत में विराज रहा है। जिस तरह जल में एक ही चंद्रमा अनेक रूप में प्रतीत हो रहा है।

जिस तरह ज्योतिःस्वरूप सूर्य एक होकर भी भिन्न २ जलाशयों में अनेक होकर दिखाई देता है, उसका यह भेद केवल उपाधि के कारण है, इसी तरह द्युतिमान् अनादि परमात्मा क्षेत्रभेद से अनेक रूप में दिखाई देता है।

जीव और ब्रह्म में जो भिन्नता बोध होती है वह तात्विक नहीं है, भेद की प्रतीति उपाधिकृत है। पञ्चदशी में लिखा है—

" कोषोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम्। "

कोषरूप उपाधि को लक्ष्य कर के ही जीवभाव की प्रतीति होती है।

प्र०—जीव यदि ब्रह्म है, तब उस को सांसारिक दुःख क्यों सताते हैं?

उ०—जीव शुद्ध, बुद्ध और मुक्त होने पर भी अविद्या के कारण देह आदि उपाधि के धर्म से संक्रामित हो जाता है।

" एवं परमार्थतो विकृतं, एकरूपमपि सद्ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तरभावाद् भजत इव उपाधिधर्मान् वृद्धिह्रासादीन्। " [३।२।२० सूत्रपर शांकर भाष्य]

सुख-दुःख, काम, क्रोध, रोग, शोक ये सब मन और देह के धर्म हैं, जीव [आत्मा] के नहीं। किन्तु जीव देह संयोग के कारण अपने को सुखी, दुःखी-रोगी और शोकी समझता है।

प्र०—जीव [ब्रह्म] देह को अपना रूप क्यों मान लेता है?

उ०—ईश्वरीय माया की मोहशक्ति के बल से जीव मोहित हो देह से नाता जोड लेता है।

" माहेश्वरी तु या माया तस्या निर्माणशक्तिवत्।
विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहयत्यसौ।
मोहादनीशतां प्राप्य मग्नो वपुषि शोचति। " [पंचदशी]

महेश्वर की जो माया है, उस की मोहशक्ति से ही जीव मुग्ध हो जाता है और उसी मोह के वश में आकर जीव ब्रह्मभाव को भूल कर अपने को कर्त्ता, भोक्ता,

और सुखी, दुःखी समझता है। यह भ्रम रज्जू में सर्प-भ्रम या शुक्ति में रजत-भ्रम के सदृश है। इस भ्रम के निवृत्ति से ही जीव और ब्रह्म का पार्थक्य दूर होकर आनन्दमय ब्रह्मभाव में जीव की स्थिति होती है।

" अनयावृतस्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वादिसंसारसम्भावनापि भवति यथा स्वाज्ञानेनावृतायां रज्ज्वां सर्पत्वसम्भावना। "

[वेदान्तसार]

प्र०—इस भ्रम को दूर करने का क्या उपाय है?

उ०—जब भ्रम को पैदा करनेवाली अविद्या (माया) ही है, तब उसको दूर करने से ही यह भ्रम दूर होगा। जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है, इस ज्ञान के दृढ होते ही अविद्या (माया) निवृत्त हो जायगी। इस लिए अद्वैतमत में जीव और ब्रह्म का ऐक्यज्ञान ही मुक्ति का उपाय है। शंकराचार्य के परम गुरु गौड़पाद कहते हैं—

"अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥ "

(माण्डूक्यकारिका १-१६)

अनादि माया के कारण सोया हुआ जीव जब जागता है, तब वह जानता है, कि वह स्वयं ही जन्महीन, निद्राहीन स्वप्नहीन अद्वैत ब्रह्म-वस्तु है।

" न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिध्यति नान्यथा। " (विवेकचूडामणि)

मुक्ति न योग से, न सांख्य से, और न विद्या से मिलती है, किन्तु जीव और ब्रह्म के एकत्वबोध से ही मिलती है।

प्र०—अद्वैतमत में मुक्ति क्या है?

उ०—अद्वैतमत में जीव स्वयं मुक्तस्वभाव है। वह पूर्णतर मुक्त है। वह बन्धन का जो अनुभव करता है, यह मिथ्या ज्ञान का फल है। मुक्ति साध्य नहीं किन्तु सिद्ध वस्तु है अर्थात् जानना भर है। दूसरे स्थान से मुक्ति की तलाश करना विडम्बना है। क्यों कि जीव सदा मुक्त है। इस बात को समझाने के लिए एक दृष्टान्त देते हैं—

"कण्ठचामीकरवत्"। एक बालक के गले में सोने का एक हार था। बालक को एक दफा भ्रम उत्पन्न हो गया, कि किसी ने उसका हार चुरा लिया। वह व्याकुल होकर इधर उधर उसको ढूँढने लगा। तब उससे किसी ने कहा कि भाई हार ढूंढने में क्यों वृथा श्रम कर रहे हो? हार तो तुम्हारे गले में ही पडा हुआ है। तब उस निकटस्थ वस्तु को, जिसको कुछ देर पहले वह बालक बडी दूर की चीज समझ रहा था, पाकर कृतार्थ हो गया। मुक्ति की भी यही बात है। मुक्ति जीव की स्वभावसिद्ध वस्तु है।

प्र०—अद्वैतमतानुसार जगत् कैसा है?

उ०—अद्वैतमतानुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त है।

"सतत्वतोऽन्यथा प्रथाविकार इत्युदीरितः।
अतत्वतोऽन्यथा प्रथाविवर्त इत्युदाहृतः॥"

विवर्त वस्तु का स्वरूप न बदल कर अन्यथा प्रतीति का नाम है। ब्रह्म जगत्-रूप में परिणत नहीं होता। परन्तु माया के सम्बन्ध से जगत् की भ्रान्ति होती है। जिस प्रकार मरीचिका में जल न होने पर भी अज्ञानी पुरुष को उसमें जलभ्रान्ति होती है, उसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्म में द्वैतभावमय संसार की प्रतीति होती है। वास्तव में संसार भ्रममात्र है। अविद्या के द्वारा जीव मिथ्या जगत् को सत्यरूप मानकर संसारबन्धन में बद्ध होता है।

प्र०—जब ब्रह्म ही सब कुछ है, तब माया कहाँ से आई?

उ०—माया कोई दूसरी सत् वस्तु नहीं है। माया ब्रह्म की शक्ति मात्र है। जिस तरह अग्नि में दाह की शक्ति है, उसी तरह ब्रह्म में माया की शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान् एक ही हैं—

"शक्तिशक्तिमतोरभेदात्।"

माया और ब्रह्म अभिन्न हैं, क्योंकि माया ब्रह्म की ही शक्ति है, वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अद्वैतवादी माया का परिचय देते हुए कहते हैं—

"सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी।"

माया सत्य भी नहीं है, मिथ्या भी नहीं है। सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है। वह अनिर्वचनीय है। उस का स्वरूप बताया नहीं जा सक्ता। इस लिए वेदान्तसार कहता है—

“ **सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चित् ॥** ”

माया भावरूपी कुछ है, वह त्रिगुणात्मिका है, ज्ञान की विरोधिनी है और वह न सत् है न असत् है।

प्र०—माया कितने रूपों में प्रकट होती है?

उ०—ब्रह्म की मायाशक्ति में दो सामर्थ्य हैं। आवरण और विक्षेप। आवरण-शक्ति के कारण जीव अपने को ब्रह्म से अलग समझता है, और विक्षेपशक्ति से जगत्रूप भ्रम का अघटन-घटन साधित होता है। इसी लिए वेदान्त में माया को अघटन-घटन-पटीयसी कहा है। जगत् नहीं है पर मालूम होता है। यही अघटन-घटन-पटीयसी माया का काम है। अद्वैतवादी कहते हैं कि ऐसा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्यों कि इंद्रजाल की क्रीडा में तथा आधुनिक मेस्मेरिझम् और हिप्नॉटिझम् में हम ऐसा होता हुआ देखते हैं।

प्र०—अद्वैतमतानुसार ब्रह्म का स्वरूप क्या है?

उ०—ब्रह्म के स्वरूप का कोई लक्षण नहीं किया जा सक्ता है। ऐसा कोई चिन्ह नहीं जिस से उस का पता बताया जाय। ऐसा कोई गुण नहीं जिस से उस की धारणा की जाय। इसी लिए इस भाव को निर्विकल्प या निरुपाधि कहा गया है। निर्गुण ब्रह्म का परिचय देते हुए श्रुतिने सिर्फ ‘नेति’ ‘नेति’ कहा है। ब्रह्म को दो प्रकार के विशेषणों से लक्षित किया है—विधेय और निषेध्य। विधेय विशेषण उस के साक्षत रूप के बोधक हैं और निषेध्य विशेषणों द्वारा उस का प्रपंच से पार्थक्य बताया जाता है।

“ **अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्।** ” [बृहदारण्यक ३।८।८]

“ **अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्।** ” [कठोपनिषद् ३।१।९]

“ **तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्।** ” [बृहदारण्यक २।५।१९]

वह स्थूल नहीं, सूक्ष्म नहीं, ह्रस्व नहीं और दीर्घ नहीं। उस का शब्द नहीं, स्पर्श नहीं, रूप नहीं, क्षय नहीं। ब्रह्म के पहले या पीछे, भीतर या बाहर और कुछ नहीं है।

" यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।"

(मुण्डक १।१।६)

जो अदृश्य है, अग्राह्य है, अगोत्र है और अवर्ण है, जिस के आँख नहीं, कान नहीं, हाथ नहीं, और पैर नहीं।

"अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च।" (कठोपनिषद् २।१४)

वह धर्म से भी पृथक् है और अधर्म से भी, कार्य से भी अलग है और कारण से भी, अतीत से भी भिन्न है, और भविष्य से भी। इस प्रकार उपर्युक्त निषेध्य विशेषणों द्वारा ब्रह्म का वर्णन है।

" सर्वकर्म्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः।"

वह सर्वकर्मा है, सब कुछ है, सब का गंध है, सब का रस है —

"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।" (बृहदारण्यक ६।१३)

" अणोरणीयान्। महतो महीयान्।"

वह नित्य का भी नित्य है, और चेतन का भी चेतन है, वह अणु से भी अणु है और महान् से भी महान् है।

इस प्रकार विधेय विशेषणों द्वारा ब्रह्म का वर्णन है।

प्र०—अद्वैतवाद में उपासना किस प्रकार की बतलाई है?

उ०—अद्वैतमतानुसार जीव ही ब्रह्म होने से उस में उपास्य-उपासक भेद ही नहीं रहता। इस लिए अद्वैतमत में अहंग्रह ही असली उपासना है। खुद का ब्रह्मरूप से चिंतन करना ही अहंग्रह उपासना है और ब्रह्म के एकत्व का अनुभव ही मोक्ष है।

" सोऽहं ", " अहंब्रह्मास्मि ", "तत्वमसि", " अयमात्मा ब्रह्म ", ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।"

विशिष्टाद्वैत ।

प्र०—विशिष्टाद्वैत के प्रधान आचार्य कौन हैं ?

उ०—विविष्टाद्वैत के प्रधान आचार्य रामानुजाचार्य हैं ।

प्र०—विशिष्टाद्वैतमतानुसार ब्रह्म कैसा है ?

उ०—विशिष्टाद्वैत समस्त दोषों सें रहित सगुण ब्रह्म मानता है ।

" वासुदेवः परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः ।
कैवल्यदः परं ब्रह्म विष्णुरेव सनातनः ॥ "

कल्याणगुणयुक्त वासुदेव ही परब्रह्म है । मुक्तिदाता सनातन विष्णु ही परब्रह्म है ।

" एष आत्माऽपहतपाप्मा । "

" परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते । "

ब्रह्म परमात्मा पापस्पर्श से हीन है । उस की अनेक परा शक्तियाँ हैं ।

" वासुदेवः परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः ।
भुवनानामुपादानं कर्ता जीवनियामकः ॥

कल्याणगुण से युक्त वासुदेव ही परब्रह्म है । वह समस्त भुवनों का उपादान, कर्ता और अन्तर्यामी रूप से जीवों का नियामक है ।

" यतो यस्मात् सर्वेश्वरात् निखिलहेयप्रत्यनीकस्वरूपात् सत्यसंकल्पाद्यनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणात् सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः पुंसः सृष्टिस्थितिप्रलयाः प्रवर्तन्त इति सूत्रार्थः । [रामानुजभाष्य]

जो सर्वेश्वर सकल हेय गुणों के विपरीत है, सत्य, संकल्प, आदि निरतिशय अनेक कल्याणगुणों का आकर है, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, उसी पुरुष से सृष्टि, स्थिति, और प्रलय होते हैं, और वही पर ब्रह्म है ।

प्र०—विशिष्टाद्वैत के मत में जीव, जगत् और ईश्वर क्या एक हैं ?

उ०—विशिष्टाद्वैत के मत में ईश्वर, जीव और जड ये तीन अलग २ पदार्थ हैं; और जीव और जड ये ईश्वराधीन हैं । क्योंकि ईश्वर ही भोक्ता और भोग्य

अर्थात् पुरुष और प्रकृति (जीव और जड) दोनों में अन्तर्यामी रूप से विराज रहे हैं।

" परमेश्वरस्यैव भोक्तृभोग्ययोरुभयोरन्तर्यामिरूपेणावस्थानम् । "

[सर्वदर्शनसंग्रह]

" तदेतत्कार्यावस्थस्य च कारणावस्थस्य च चिदचिद्वस्तुनः सकलस्य स्थूलस्य सूक्ष्मस्य च परब्रह्मशरीरत्वम् । "

[२-१-१९ सूत्र पर श्रीभाष्य]

कार्यावस्थापन्न और कारणावस्थापन्न, चित् और अचित्, स्थूल और सूक्ष्म सभी वस्तुएँ परब्रह्म के शरीर हैं।

प्र०—विशिष्टाद्वैतमतानुसार मुक्ति किसे कहते हैं ?

उ०—विशिष्टाद्वैतवादी पुनरावृत्तिरहित भगवान् के चरण में निवास को ही मुक्ति कहते हैं।

" स्वभक्तं वासुदेवोऽपि संप्राप्यानन्दमक्षयम् ।
पुनरावृत्तिरहितं स्वीयं धाम प्रयच्छति ॥ "

वासुदेव अपने भक्त को अक्षय आनन्द देकर पुनरावृत्तिरहित निजधाम प्रदान करते हैं।

प्र०—मुक्ति प्राप्त करने का उपाय क्या है ?

उ०—सगुण परमात्मा की भक्ति करने से और अपने सर्वस्व को ईश्वरार्पण करने से मुक्ति प्राप्त होती है।

प्र०—जीव के मुक्त होने पर उसे कैसी स्थिति प्राप्त होती है ?

उ०—विशिष्टाद्वैत के मत में मुक्तात्मा परब्रह्म (ईश्वर) के साथ मिल कर कभी एक नहीं होता। वह ब्रह्म के स्वरूप को जरूर प्राप्त होता है, ब्रह्मोचित (सत्यसंकल्पत्व और सर्वज्ञत्व) गुण जरूर लाभ करता है, परब्रह्म के साथ मिल-कर एक नहीं होता।

" एवं गुणाः समानाः स्युर्मुक्तानामीश्वरस्य च ।
सर्वकर्तृत्वमेवैकं तेभ्यो देवे विशिष्यते ॥ "

मुक्त पुरुषों के ईश्वर के समान गुण हो जाते हैं। पर सर्वकर्तृत्व ईश्वर के साथ ही रहता है। यही विशेषता है।

" जगद्व्यापारवर्जम्। " [सूत्र ४-४-१७]

जगत् के व्यापार में इस का कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

शुद्धाद्वैत।

प्र०—शुद्धाद्वैत के प्रधान आचर्य कौन हैं ?

उ०—शुद्धाद्वैत के प्रधान आचार्य श्रीवल्लभाचार्य हैं।

प्र०—शुद्धाद्वैत के क्या सिद्धान्त हैं ?

उ०—**" माया-सम्बन्ध-रहितं शुद्धमित्युच्यते बुधः।**
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥ "

वल्लभाचार्य के मतानुसार कार्यकारणरूप ब्रह्म शुद्ध है और माया से इस का कोई सम्बन्ध नहीं है। दृश्य और अदृश्य जगत् सब ईश्वर की ही लीला है। माया कोई चीज ही नहीं, सब कुछ ब्रह्म है। ब्रह्म में किसी अशुद्धता (अज्ञान-माया-) का नाममात्र को मेल नहीं है। अर्थात् अद्वैतवादी जगत् को ब्रह्म की माया से प्रकट हुआ मानते हैं और माया को ब्रह्म की ही एक शक्ति निश्चित करते हैं। परन्तु शुद्धाद्वैतवादी माया को ब्रह्म की शक्ति भी नहीं मानते और न यह मानते हैं कि शुद्ध ब्रह्म के अतिरिक्त अज्ञान या माया से ही जगत् है। बल्कि जो कुछ दृश्य व अदृश्य रूप संसार है वह सब शुद्ध ब्रह्म है।

प्र०—शुद्धाद्वैत के मत में जीव का ब्रह्म से क्या सम्बन्ध है ?

उ०—शुद्धाद्वैत के मतानुसार जीव नित्य और अणु है। जीव का ब्रह्म से अंशांशीभाव सम्बन्ध है। जैसे सोने की रज [कण] और सोने का गोला। इसी प्रकार जीव ब्रह्म का सूक्ष्म अंश है।

प्र०—शुद्धाद्वैत के मतानुसार जीव को मुक्ति कैसे मिल सकती है ?

उ०—सब दृश्य और अदृश्य जगत् को श्रीकृष्णरूप शुद्ध ब्रह्म समझकर गोपियों के समान श्रीकृष्ण पर अपना तन मन धन इत्यादि सब कुछ न्योछावर कर के भक्तिद्वारा आत्मसमर्पण करने से जीव की मुक्ति होती है।

द्वैत ।

प्र०—द्वैतमत के प्रधान आचार्य कौन हैं ?

उ०—द्वैतमत के प्रधान आचार्य श्रीमध्वाचार्य हैं ।

प्र०—द्वैतमत के सिद्धान्त क्या हैं ?

उ०—मध्वाचार्य के मतानुसार संसार में दो तत्व हैं; एक स्वतंत्र और दूसरा अस्वतंत्र । भगवान् विष्णु स्वतंत्र, निर्दोष ओर सब सद्गुणों से पूर्ण हैं । इसके अतिरिक्त सब बातें अस्वतंत्र हैं ।

"स्वतन्त्रमस्वतन्त्रं च द्विविधं तत्वमिष्यते ।
स्वतन्त्रो भगवान् विष्णुर्निर्दोषोऽशेषसद्गुणः ॥"

प्र०—मध्वाचार्य के मतानुसार जीव, जड और ईश्वर कैसे हैं ?

उ०—"जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा ।
जीवभेदो मिथश्चैव जडजीवभिदा तथा ॥
मिथश्च जडभेदो यः प्रपंचो भेदपंचकः ।
सोऽयं सत्योप्यनादिश्च सादिश्चेन्नाशमाप्नुयात् ॥
न च नाशं प्रयात्येष न चासौ भ्रान्तिकल्पितः ।"

मध्वाचार्य द्वैतवादी हैं । वे जीव और ईश्वर में भेद मानते हैं; जड और ईश्वर में भेद मानते हैं; जीव में परस्पर भेद मानते हैं, अर्थात् जीव व्यक्ति असंख्य रूप से है, एक या अंशात्मक नहीं; जड ओर जीव में भेद मानते हैं; और जड में भी परस्पर भेद मानते हैं । यह प्रपञ्च (संसार) सत्य और अनादि है । जगत् भ्रान्ति या कल्पनामात्र नहीं है ।

प्र०—संसार में द्रव्य और पदार्थ कितने हैं ?

उ०—द्वैत के मतानुसार परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत, आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्व, अहंकारतत्व, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब ये बीस द्रव्य हैं; और द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य, और अभाव ये दस पदार्थ हैं ।

षष्ठम अध्याय।

हिंन्दू दर्शनोंका परिचय।

(ज्ञान)

गीतादर्शन।

प्र०—गीतादर्शन का हिन्दूधर्म में कौनसा स्थान है और उसका क्या महत्व है?

उ०—भगवद्गीता में हिन्दूधर्म के वेद, उपनिषद् और दर्शन आदि सब शास्त्रों का तत्वज्ञान और आचार संशोधित रूप में वर्णित होने से गीता हिन्दू धर्म का प्रमाणभूत ग्रन्थ है। मनुष्य अपना जीवन ऐहिक और पारलौकिक उन्नति [अभ्युदय और निःश्रेयस्] के लिए अविरोध रूप से किस प्रकार व्यतीत करे इस बात का अपूर्व विवेचन गीता में [ज्ञानयुक्तभक्तिप्रधाननिष्काम कर्मयोग के रूप में] किया गया है।

प्र०—गीताधर्म का प्रवर्तक कौन है?

उ०—भगवान् श्रीकृष्ण गीताधर्म के प्रवर्तक हैं।

प्र०—गीता के मत में संसार कैसा माना गया है?

उ०—अन्य दर्शनों की तरह गीता भी संसार को दुःखमय मानती है।

"**पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।**" [८।१५]

"**अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य।**" [९।३३]

"**मृत्युसंसारसागरात्।**" [१२।७]

"**मृत्युससारवर्त्मनि।**" [९।३]

"**जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।**" [१३।८]

प्र०—गीतादर्शन के अनुसार दुःखनिवृत्ति का उपाय क्या है?

उ०—गीता के मत में ज्ञान से ही दुःखों की निवृत्ति होती है ।

" न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । " [४।३८]

" सर्वकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते । " [४।३३]

" सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि । " [४।३६]

" यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ " [४।३७]

" ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति । " [४।३९]

" बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । " [७।१९]

प्र०—गीता के मत में मोक्षप्राप्ति के कितने मार्ग हैं ?

उ०—गीता में मोक्षप्राप्ति के चार मार्ग बतलाये गये हैं ।

" ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ " [१३।२४-२५]

कोई ध्यान से अपने में ही आत्मा को देखता है, कोई सांख्ययोग से देखता है और कोई कर्मयोग से । पर जिन्हें इस प्रकार का ज्ञान नहीं है, वे दूसरों से सुनकर ध्यान करते हैं और इस प्रकार सुनकर ध्यान करनेवाले भी मृत्यु को पार कर जाते हैं । इस श्लोक में भगवान् ने कर्मवाद, ज्ञानवाद, ध्यानवाद, और भक्तिवाद इन चार मार्गों की ओर इशारा किया है । कर्मवाद कर्मयोग में, ज्ञानवाद ज्ञानयोग में, ध्यानवाद ध्यानयोग में और भक्तिवाद भक्तियोग में परिणत होने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है ।

प्र०—जो मुक्ति प्राप्त करने का पूर्ण अधिकारी हो गया है, ऐसे स्थितप्रज्ञ के क्या लक्षण हैं ?

उ०—स्थितप्रज्ञ के लक्षण इस प्रकार हैं ।

"प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ "

" दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ " (२।९९-९७)

"विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः सशान्तिमधिगच्छति ॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥ "
(गीता २।७१-७२।)

हे पार्थ, जो समस्त मनोरथों का त्याग कर के अपने ही में प्रसन्न रहता है उस को " स्थितप्रज्ञ " अर्थात् दृढबुद्धिवाला कहते हैं । जो न दुःख से दुखी होता है, न सुख चाहता है, जिसे न राग है, न क्रोध है, न भय है, उसी को स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं । जिसे किसी से प्रेम नहीं है, जो न शुभ से प्रसन्न होता है और न अशुभ से दुखी—वही स्थितप्रज्ञ है । जो पुरुष सब कामनाओं को त्याग कर इच्छारहित हो जाता है, जिस में "मैं" और "मेरा" भाव नहीं रहता उसी को शान्ति मिलती है । हे पार्थ, यही ब्रह्मनिष्ठा है । इसे पाकर फिर मोह नहीं होता । अन्तकाल में भी यदि इस की प्राप्ति हो जाय तो मोक्ष मिल जाता है ।

प्र०—गीता के मतानुसार मोक्ष का स्वरूप क्या

उ०—गीता को छोडकर न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और बौद्ध, ये सब दुःखातीत अवस्था को मुक्ति मानते हैं । उन के मत में मोक्षावस्था मे दुःख की निवृत्ति तो जरूर होती है, किन्तु सुख (आनन्द) की प्राप्ति नहीं होती । गीता मोक्ष को सच्चिदानन्दस्वरूप मानती है ।

"सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वतः ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः । " (६।२१-२२)

मोक्ष-अवस्था में वह सुख प्राप्त होता है जिस की कोई सीमा ही नहीं। वह इन्द्रियों से परे केवल बुद्धिगम्य है। इस से बढ कर दूसरी कोई अवस्था आनन्दपूर्ण नहीं है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर आत्मा अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता।

"सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥" (६।२८)

वह ब्रह्मसंस्पर्शरूप अत्यन्त सुख को प्राप्त करता है।

"स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥" (५।२१)

वह ब्रह्म में अन्तःकरण को मिलाकर अक्षय सुख को प्राप्त करता है।

जैनदर्शन, विशिष्टाद्वैत और द्वैत मत में जब जीव मुक्त हो जाता है तब उस में ईश्वरीय गुणों का विकास होता है और मुक्तात्मा का फिर कभी सृष्टिकार्य से सम्बन्ध नहीं रहता, तथा प्रत्येक की व्यक्तिगत सत्ता भी भिन्न २ रहती है। परन्तु गीता अद्वैत के मतानुसार जीव को सदा ही मुक्त मानती है और अज्ञान नष्ट होने के बाद जब जीव मुक्त हो जाता है तब उस का व्यक्तिगत अस्तित्व न रहकर परमात्मा के साथ एकरूप हो जाता है। परन्तु अद्वैतवाद की तरह गीता ब्रह्म को सर्वथा निर्गुण (निर्विशेष) नहीं मानती, बल्कि सगुण (सविशेष) भी मानती है। इस लिए आत्मा परमात्मस्वरूप हो जाने से सृष्टि आदि कार्यों में भी उस का सम्बन्ध रहता है, ऐसा मानती है।

प्र०—गीता के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप क्या है?

उ०—" अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।" (गीता १३।१२)

अनादि परब्रह्म सत् भी नहीं है असत् भी नहीं है।

" त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्। " (गीता ११।३७)

वह अक्षर है, सत् और असत् है, और सत् और असत् से भी परे है।

" निर्दोषं हि समं ब्रह्म। " (गीता ५।१९)

परब्रह्म "निर्दोष सम" (Absolutely homogeneous) है।

"नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।"
(गीता ११।१६)

वह आदि, मध्य और अन्त विरहित है।

"नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।"

वह नित्य, सनातन, स्थाणु, अचल और सर्वगत है।

प्र०—गीता में ब्रह्म और जगत् का क्या सम्बन्ध माना है?

उ०—ब्रह्म और जगत् का अन्योन्य सम्बन्ध है। ब्रम्ह विश्व का बीज है, विश्व का परम आधार है, विश्वव्यापी है और विश्व रूप है। चराचर विश्व उस में स्थित है, सूत में जिस तरह मणि गूँथे रहते हैं, उसी तरह सारे भूत उस में गूँथे हुए हैं। स्थावर और जंगम सब उस में ही है। उस को छोड़कर कुछ हो ही नहीं सकता।

" बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् " [७-१०]

" त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् " [११-१८]

" निधानं बीजमव्ययम् " [९-१८]

" सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः। " [११-४०]

" येन सर्वमिदं ततम्। " [१८-४६]

" त्वया ततं विश्वमनंतरूप। " [११-३८]

" इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥ " [११-७]

" मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥" [७-७ गीता]

" न तदस्ति बिना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन॥ " [१०-३९ गीता]

ब्रह्म से जीव की प्राप्ति, जगत् की उत्पत्ति, विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय हैं। वही भूतों का आदि, मध्य और अन्त है।

" यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्। " [१८-४६]

" भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च । " [१३-१६]

" अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । " [१०-८]

" ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् । " [९-१३]

" अहमादिश्च मध्यं च भूतानामंत एव च । " [१०-२०]

" सर्गाणा मादिरंतश्च मध्यंचैवाहमर्जुन । " [१०-३२ गीता]

प्र०—गीता प्रकृति और पुरुष का किस रूप में प्रतिपादन करती है ?

उ०—"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विध्दि प्रकृतिसंभवान् ॥ "

प्रकृति और पुरुष अनादि हैं और जो विकार हैं वे सब प्रकृति के हैं ।

"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौंतेय जगद् विपरिवर्तते ॥"

हे कौन्तेय, समस्त संसार का स्वामी (ईश्वर) मैं हूँ और मेरा आश्रय ग्रहण कर प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है, इसी लिए इसका बार २ उदय होता है ।

प्र०—प्रकृति के कितने भेद हैं ?

उ०—"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुध्दिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विध्दि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ " [७-४-६ गीता]

गीता कहती है कि भगवान् की दो प्रकृतियाँ हैं । एक अपरा और दूसरी परा । इन दोनों के संयोग से ही सृष्टि होती है । अपरा प्रकृति के आठ भाग हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार । इससे भिन्न जो परा अर्थात् श्रेष्ठ प्रकृति है, वह जीवरूपा है और इस जगत् को उसी का आधार

है। ये दोनों प्रकृतियाँ ही सब भूतों की उत्पत्ति के स्थान हैं, समस्त जगत् परमात्मा से ही उत्पन्न और परमात्मा में ही लीन होता है।

प्र०—क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ और क्षर-अक्षर किसे कहते हैं ?

उ०—अपरा प्रकृति को क्षेत्र या क्षर कहते हैं, और परा प्रकृति को क्षेत्रज्ञ या अक्षर कहते हैं।

"इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥" (१३।१-२)

इस शरीर को ही क्षेत्र कहा गया है। इस बात को जो जानता है उसे क्षेत्रज्ञ अर्थात् ज्ञानी पुरुष कहते हैं। हे भारत, सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ, ऐसा जान। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही मेरा (परमात्मा का) ज्ञान माना गया है।

"यावत् संजायते किञ्चित् सत्वं स्थावरजंगमम् ।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥" (१३।२६)

हे अर्जुन, स्थावर और जंगम सब प्रकार के प्राणी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं।

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरःसर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥" (१५।१६-१८)

क्षर और अक्षर दो पुरुष संसार में प्रसिद्ध हैं। उस में समस्त भूत क्षरपुरुष हैं और कूटस्थ अक्षरपुरुष है। इन से भिन्न जो उत्तम पुरुष है वह परमात्मा है। वही अव्यय ईश्वर त्रैलोक्य में व्याप्त रह कर उस का धारणपोषण करता है।

क्षर से परे और अक्षर से उत्तम होने के कारण वेदों में और लोक में वह पुरुषोत्तम कहा जाता है।

इस प्रकार गीता के मत में प्रकृति-पुरुष (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, या क्षर-अक्षर) ये चरम तत्व नहीं हैं, ईश्वर ही चरम तत्व है। प्रकृति-पुरुष के मेल को ही महद् ब्रह्म संज्ञा है।

प्र०—प्रकृति और पुरुष या क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के मेल से जो जगत् की सृष्टि होती है उस का निमित्त कौन है?

उ०—"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥" (१४।३-४)

हे भारत, महद् ब्रह्म मेरा गर्भ रखने का स्थान है। उस में मैं गर्भ रखता हूँ और उस से सब भूतों की उत्पत्ति होती है। सब गर्भों में जो शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सब का उत्पत्तिस्थान महद् ब्रह्म है और उस में बीज रखनेवाला पिता मैं हूँ।

सांख्यमत के अनुसार प्रकृति और पुरुष विश्व के चरम द्वैत (Ultimate Duality) हैं। प्रकृति और पुरुष के महाद्वैत में ही सांख्यशास्त्र समाप्त हो गया है। किन्तु गीता उस के एकत्व का प्रतिपादन करती है। गीता के मत में सांख्य में कहे प्रकृति और पुरुष ईश्वर के दो विभाग-मात्र (Aspects) हैं। ये कोई चरम तत्व नहीं हैं। भगवान ही चरम तत्व हैं। प्रकृति और पुरुष इनके आधीन हैं जगत्-सृष्टि के समय प्रकृति और पुरुष का संयोग ईश्वरेच्छा से ही होता है।

प्र०—गीता के मत में पुरुष एक है या अनेक हैं?

उ०—जिस प्रकार सांख्य पुरुष को अनेक मानता है, उस प्रकार गीता पुरुष का अनेक होना नहीं मानती, गीता कहती है, कि जिस तरह सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है, उसी तरह एकमात्र पुरुष समस्त क्षेत्र (प्रकृति) को प्रकाशित करता है।

" यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ " (१३।३३)

गीता के मत में भगवान् ही क्षेत्रज्ञ के रूप में सब क्षेत्रों में विराजमान हैं ।

"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।" (१३।२)

भगवान् कहते हैं "प्रत्येक क्षेत्र में मुझे ही क्षेत्रज्ञ समझो ।" वे अविभक्त होते हुए भी भूतों में विभक्त रूप से स्थित है ।

"अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।" (१३।१६)

प्र०—गीता के मत में जीव का स्वरूप कैसा हैं ?

उ०—गीता के मतानुसार जीव अज है, पुराण है, नित्य है, सनातन है, अविनाशी है, स्थाणु है, अचल है, शाश्वत है, अविकार है, सर्वगत है, अप्रमेय है, अव्यक्त है और अचिन्त्य है । उत्पत्ति-विनाश-रहितत्व, विकार-शून्यत्व, सर्व-व्यापित्व और अमेयत्व यह सब ब्रह्म के लक्षण हैं । अतएव ब्रह्म के लक्षणों से जीव को लाक्षित कर के भगवान्ने अद्वैतमतानुसार जीव और ब्रह्म का ऐक्य ही स्थापन किया है ।

"अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।" (१०।२०)
"क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।" (१३।२)
"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।" (१५।७)
"अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।" (१३।१६)

"उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥" (१३।२२ गीता)

इस देह में परम पुरुष परमात्मा महेश्वर विराज रहे हैं, वे साक्षी' अनुमन्ता, भर्त्ता और भोक्ता हैं ।

"अविनाशि तु तद्विध्दि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥

"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥"
[२।२०]

" अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।" [२।२४]

जिस से यह संसार व्याप्त है, वह अविनाशी और अव्यय है। उस का कोई नाश नहीं कर सकता। आत्मा न मारता है, न मरता है। वह जन्म-मृत्यु से हीन है। क्षय-वृद्धि से हीन है। वह अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है। शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता। आत्मा छिद नहीं सकता, जल नहीं सकता, गल नहीं सकता और सूख नहीं सकता। आत्मा नित्य है, सर्वगत है, स्थाणु है, अचल है और सनातन है। आत्मा अव्यय है, अचिंत्य है और अविकारी है।

प्र०—गीता के मत में जीव ईश्वरस्वरूप होते हुए भी संसार में क्यों फँसता है?

उ०—अद्वैतमतानुसार गीता भी जीव के संसार में भ्रमण करने और अपने ब्रह्म-स्वरूप से अनभिज्ञ रहने का कारण माया ही मानती है।

" ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥" [१८।६१]

हे अर्जुन, ईश्वर प्रत्येक भूत के हृदय में वास करता है, वह अपनी माया से जीवमात्र को चक्र पर चढा कर फिरा रहा है।

" अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संम्भवाम्यात्ममायया॥" [४।६]

यद्यपि मैं अजन्मा हूँ, मेरा स्वभाव शाश्वत है, और सब भूतों का स्वामी हूँ, तो भी अपनी प्रकृति में स्थित होकर अपनी माया से मैं जन्म लेता हूँ।

" नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।" [७।२५]

मेरे चारों ओर योगमाया का पड़दा है, इस लिए मैं सब को दिखलाई नहीं देता।

" त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥" [७।१३]

तीनों गुणों (सत्व-रज-तम)से व्याप्त इन अनेक पदार्थों ने समस्त जगत् को मोह में डाल रखा है। इस लिए जगत् यह नहीं जानता कि मैं इन तीनों से अलग हूँ।

प्र०—क्या जब जगत् में अधर्म होने लगता है, तब कोई नया संगठन ईश्वरीय शक्ति के द्वारा होता है?

उ०—उपनिषद् में तो कहीं २ अवतारवाद का प्रसंग दिखलाई पड़ता है, पर वेदान्त तथा अन्य दर्शनों में उसका निशान तक नहीं मिलता; किन्तु गीता बतलाती है, कि करुणामय भगवान् जब संसार में अधर्म की मात्रा बढ़ जाती है, तब जीव के हित के लिए और जगत् की उन्नति के लिए बार २ अवतार लेकर अधर्म को दूर कर आत्मोन्नति का मार्ग दिखलाते हैं।

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥" (४।७)

जब २ धर्म की ग्लानि होती है, और अधर्म बढ जाता है, तब तब मैं सज्जनों की रक्षा और दुष्टों का नाश करने के लिए तथा धर्म की स्थापना के लिए बार २ जन्म लिया करता हूँ।

प्र०—गीतोपदेश की परम्परा कैसी है?

उ०—अनादि काल से जब २ संसार में अनवस्था प्राप्त होती है, तब २ भगवान् अवतार लेकर लोकसंग्रहार्थ साम्यभाव से कर्म करने का अर्थात् गीता-धर्म का उपदेश देते रहे हैं।

"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥" (४।१-२-३)

कमी क्षीण न होने वाले या त्रिकालाबाधित और नित्य कर्मयोगमार्ग का मैंने विवस्वान् (सूर्य) को उपदेश किया। विवस्थान् ने (अपने पुत्र) मनु से कहा और मनु ने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकु से कहा। इस परम्परा से प्राप्त हुआ यह योग राजर्षियों को मालूम हुआ। हे अर्जुन ! परन्तु दीर्घ काल के पश्चात् वही योग इस लोक में नष्ट हो गया, उसी पुरातन योग (कर्मयोग-मार्ग) को जो कि सब रहस्यों का उत्तम रहस्य है, मैंने आज तुझे इस लिए बताया है, कि तू मेरा भक्त और सखा है।

प्र०—कर्म-मीमांसा (पूर्वमीमांसा) में कहे गये यज्ञयागादि के विषय में गीता का क्या मत है ?

उ०—कर्ममीमांसा के ज्ञानविरोधी हिंसामय यज्ञयागादि के विषय में गीता का मत प्रतिकूल है। भगवान, वेद के कर्मकांड को लक्ष्य कर के अर्जुन को उपदेश देते हैं—

"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। (२।४६)

वेद में तीन गुणों का ही वर्णन है; तू इन गुणों से अतीत हो जा।

"यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरता पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥"

"भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
वयवसायत्मिका बुध्दिः समाधौ न विधीयते ॥"
(२।४२।४४)

वेद के फलवाद में आसक्त होकर जो पुष्पित वाक्यों से कर्म की प्रशंसा कर के कहते हैं कि इस से बढकर कुछ नहीं, वे अज्ञानी हैं।

जो कामात्मा है, स्वर्गपरायण है, भोग और ऐश्वर्य की क्रियाओं के साधक कर्म्मकाण्ड में अनुरक्त हैं, उन फलासक्त मनुष्यों की बुद्धि समाधि में कभी स्थिर नहीं होती। गीता ने साफ २ कर्मी का पतन प्रतिपादन किया है—

" त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥"

(९।२०-२१)

कर्म्मकाण्डी सोमपान करनेवाले याज्ञिक पापों से छूट कर यज्ञद्वारा स्वर्गप्राप्ति की कामना करते हैं, वे इन्द्रलोक को प्राप्त होकर अनेक तरह के दिव्य भोगों को भोगते हैं। विशाल स्वर्गलोक में भोगों को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर वे फिर मृत्युलोक में आते हैं।

" अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।" (५।१२)

सकाम कर्म करनेवाला फल में आसक्ति रहने के कारण बन्धन में पड़ता है। इसी तरह सकाम साधक बार बार आते और जाते हैं।

गीता में यह भी लिखा है, कि देवता के लिए जो यज्ञ किया जाता है, उस का फल अच्छा नही होता।

" यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥"

(९।२५)

जो देवताओं को भजते हैं वे देवताओं को प्राप्त होते हैं। जो पितरों को भजते हैं वे पितृगणों को प्राप्त होते हैं। जो भूतगणों को भजते हैं वे भूतों को प्राप्त करते हैं। किन्तु जो मुझ को भजते हैं वे मुझ को प्राप्त होते हैं।

" देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।" [७।२३]

देवताओं को भजनेवाले देवताओं को और मुझ को भजनेवाले मुझ को प्राप्त होते हैं।

प्र०—गीता के मतानुसार यज्ञ का स्वरूप क्या है ?

उ०—गीता में जिस यज्ञ का प्रतिपादन किया है, वह कर्म-मीमांसा के यज्ञ और उस के उद्देश्य से अलग है। गीता के मतानुसार जिस कर्म में स्वार्थसिद्धि-

का उद्देश नहीं, जिस कर्म की जड में संकल्पसिद्धि की प्रत्याशा नहीं और जो कर्म अहंकार-रहित होकर भगवान् को अर्पण कर के लोकसंग्रह के लिए ही किया जाता है, वह कर्म ही यज्ञ है। और इसी प्रकार का यज्ञ करने के लिए गीता ने बार २ कहा है।

"यज्ञार्थात् कर्मणोन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।" (गीता)

निष्काम बुद्धि से लोकसंग्रहार्थ जो कर्म किया जाता है उस को छोडकर और जितने कर्म हैं वे बन्धन के कारण हैं।

"यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥" (४।३१)

जो यज्ञ नहीं करता, उस का इहलोक भी नहीं परलोक भी नहीं। जो यज्ञ से बचा भोजन खाते हैं, वे ही सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

"यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥"
(३।१३)

जो अपने लिए भोजन पकाते हैं वे पापी हैं। पर जो यज्ञ से बचा हुआ भोजन करते हैं वे सब पापों से छूट जाते हैं।

"यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।" (४।२३)

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥" (५।१०)

जो निष्कामबुद्धि से लोकसंग्रहार्थ कर्म करता है और सब कर्म ब्रह्म को अर्पण करता है, वह पाप से वैसा ही अलग रहता है जैसा कमल का पत्ता पानी से।

"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥" [३।१०]

पूर्वकाल में प्रजापति ने जीवसृष्टि के साथ ही यज्ञ का सृजन किया और जीवों को उपदेश दिया कि इस यज्ञ के द्वारा ही तुह्मारी उन्नति होगी।

यज्ञ का वास्तविक स्वरूप निष्कामस्वार्थत्याग की भावना है। परमात्मा के द्वारा सृष्टि पैदा हुई, वह भी **"एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेति"** अर्थात् एक से मैं अनेक हो जाऊँ, ऐसी [यज्ञ] त्याग-भावना का ही फल है। सृष्टि का अस्तित्व त्याग [यज्ञ] पर अवलम्बित है। सृष्टि की स्थिति विष्णु पर प्रतिष्ठित है और विष्णु ही यज्ञ अर्थात् निष्काम त्याग है। **"यज्ञो वै विष्णुः।"** जीव की उत्क्रान्ति भी इसी निष्काम स्वार्थत्याग अर्थात् यज्ञ पर अवलम्बित है। जैसे २ जीवों में निष्काम स्वार्थ-त्याग की वृद्धि होती जाती है वैसे २ ही जीव की उत्क्रान्ति होती रहती है। और जब जीव पूर्ण रूप से यज्ञमय हो जाता है अर्थात् पूर्णतया निष्काम स्वार्थत्याग की चरमसीमा को प्राप्त कर लेता है तब उस का पूर्ण विकास [मुक्त स्वरूप] हो जाता है। इस प्रकार का यज्ञ करने का गीता उपदेश देती है।

प्र०—गीता में मोक्षप्राप्ति के लिए कर्मयोग और कर्मसंन्यास में कौनसा मार्ग श्रेष्ठ बतलाया है?

उ०—**"संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।**
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥" (५।२)

गीता के मत में कर्मयोग और कर्मसंन्यास दोनों ही मोक्ष देनेवाले हैं। किन्तु कर्मयोग से जीव को मोक्षप्राप्ति के साथ २ ही दूसरे जीवों का भी कल्याण होता है इस लिए कर्मसंन्यास से भी वह श्रेष्ठ है।

प्र०—संन्यासमार्ग में कर्म छोडने के लिए क्यों जोर दिया गया है?

उ०—**"त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।"**

कोई २ मनीषी कर्म को दोपयुक्त होने के कारण वर्जनीय कहते हैं। कर्म और मानासिक विकार का अन्योन्य सम्बन्ध है। बिना मनोविकार के कर्म ही नहीं हो सकते। इस लिए मनुष्य को मोक्षप्राप्ति के लिए मनोविकार नष्ट करने के वास्ते कर्म का त्याग करने के लिए कहा गया है।

प्र०—गीता में कर्मसंन्यास के अतिरिक्त कर्मयोगाचरण के लिए विशेष रूप से क्यों कहा गया है?

उ०—गीता कहती है, कि सिर्फ कर्म छोडने से कर्म करने की अभिलाषा छूट नहीं सकती। बाहर से इन्द्रियों का संयम कर के भीतर से काम्य वस्तु की अभिलाषा रखनेवाले कर्मसंन्यासियों को गीता मिथ्याचारी कहती है।..

"कर्मेंद्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥" (३।६)

गीता के मत में तो जो पुरुष मन से इंद्रियों को संयत कर के कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का अनुष्ठान करता है वही प्रशंसा के योग्य है ।

"यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥" (३।७)

गीता फिर कहती है कि सम्पूर्णरूप से कर्मों का त्याग करना मनुष्य के लिए असंभव है । क्यों कि बिना कर्म किए मनुष्य एक क्षण भी नहीं रह सकता । प्रकृति के गुण उस से इच्छा न रहते हुए भी जबरदस्ती कर्म करा लेते हैं ।

" नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ " (३।५)

" नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ॥ " (१८।११)

देहधारी जीव कभी बिलकुल कर्मत्याग नहीं कर सकता । गीता के मत में कर्म में आसक्त होना जिस तरह बुरी बात है, कर्म का छोड देना भी उसी तरह अच्छा नहीं है ।

" मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि । " [२।४७]

फल की आकांक्षा से भी कर्म मत करो और कर्मत्याग में भी आसक्त मत हो । इस लिये गीता कहती है—

" नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः । " (३।८)

अकर्म से कर्म करना अच्छा है, इस लिए तू बराबर कर्म करता रह ।

" योगस्थः कुरु कर्माणि " [२।४८]

" तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥ " [३।९]

लोकसंग्रह के लिए निःस्वार्थ बुद्धि से योगयुक्त हो कर के प्रवाहपतित काम करना मनुष्य के अभ्युदय और निःश्रेयस [ऐहिक और पारलौकिक उन्नति] के लिए सर्वोत्कृष्ट है ।

प्र०—क्या गीता के मत में कर्म बन्धन का कारण नहीं है ?

उ०—कर्म बन्धन का कारण जरूर होता है। गीता कहती है, कर्म बन्धन का कारण इस लिए है, कि जीव फलप्राप्ति की आकांक्षा से आसक्त चित्त से अहंकारपूर्वक कर्म करता है। किन्तु यदि जीव फल की इच्छा को छोड कर अनासक्त चित्त से कर्तव्य समझकर कर्म करे, तब वह कर्म उस के बन्धन का कारण नहीं होता।

" अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥" [६।१]

जो जीव कर्मफल की आकांक्षा को छोड कर कर्तव्यबुद्धि से कर्म करता है वही संन्यासी है और वही योगी है। कर्मत्यागी या अग्नि की परिचर्या न करनेवाला असली सन्यासी नही है। गीता कहती है, जो जीव कर्म के विषय में राग–द्वेष नहीं रखते, वे ही सच्चे संन्यासी और वे ही द्वंद्वातीत हैं।

" ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥" [५।३]

गीता के मत में कर्मसंन्यास से भी कर्मफल के त्याग करनेवाले को ही सच्चा संन्यासी कहा गया है।

" यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥" (६।२)

हे पाण्डव, संकल्पसंन्यास का ही नाम योग है। क्यों कि संकल्पसंन्यास किये बिना कोई योगी नही बन सक्ता।

गीता के मत में निर्द्वन्द्व होकर कुशलतायुक्त कर्म करने को ही योग कहा गया है—

" योगः कर्मसु कौशलम्।" (२।५०)

हे धनञ्जय, योग के द्वारा जिन्हों ने कर्मसंन्यास किया है, ज्ञान के द्वारा जिन्हों ने संशय छिन्न कर लिए हैं, ऐसे आत्मवान् पुरुष को कर्म कभी नहीं बाँध सकते।

" योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवंतं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥" [४-४१]

योगयुक्त, विशुद्धात्मा, संयतात्मा, जितेन्द्रिय व्यक्ति, जिसकी आत्माने सब भूतों के साथ एकत्व का अनुभव कर लिया है, वह कर्म करके भी लिप्त नहीं होता।

"योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥" [५।७]

प्र०—ज्ञानी पुरुष को पूर्ण ज्ञान होने के पश्चात् लोकसंग्रह के लिए कर्म करना क्या परमावश्यक है।

उ०—गीता के मत में ज्ञानी पुरुष को लोकसंग्रह के लिए कर्म करना आवश्यक माना गया है ?

"लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।" [३।२०]

गीता कहती है, कि ज्ञानी पुरुष का आचार देखकर ही मामूली आदमी अपना आचरण बनाते हैं। ज्ञानी पुरुष यदि अकर्मी होकर चुपचाप बैठा रहे तो सब मनुष्य उसी का अनुकरण करेंगे, जिस से संसार मे अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी।

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥" (३।२१)

भगवान् कहते हैं, कि संसार के सब प्राणीमात्र पर मेरी समान बुद्धि है, न मेरा कोई द्वेषी है न प्रेमी है।

"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।" (९।२९)

हे अर्जुन, तो भी मैं लोकसंग्रह के लिए तुझे इन कौरवों का संहार करने के लिए कह रहा हूँ।

"न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।" (३।२२-२४)

हे अर्जुन, तीनों लोकों में मेरा कोई कर्तव्य बाकी नहीं, ऐसी कोई चीज नहीं जो मुझे न मिली हो और जिस के पाने के लिए मैं कर्म करूं, फिर भी मैं कर्म

करता हूँ। यदि मैं कर्म करना छोड़ दूँ, तब मेरी देखादेखी और लोग भी कर्मविमुख हो जायँ और ऐसा करने से यह लीलामय संसार का नाश हो जाय।

बड़े २ ज्ञानी महान् पुरुष भी लोकसंग्रह के लिए कार्य करते रहते हैं।

"यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥" (३।१७-१८)

जो आत्मा में रत हैं, आत्मा में तृप्त हैं और आत्मा में ही संतुष्ट हैं, उन को कोई कर्म नहीं। उन का कर्म और अकर्म दोनों में कोई स्वार्थ नहीं रहता। क्यों कि भूतमात्र में उन को कोई पदार्थ प्यारा नहीं। इस लिए वे कर्म करने की भी इच्छा नहीं करते और त्याग करने के लिए भी उत्सुक नहीं होते।

"प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥" (१४।२२)

सत्व, रज और तमोगुण प्रवृत्त हो या निवृत्त हो, उस का चित्त दोनों अवस्थाओं में एकसा रहता है—प्रवृत्त हो तो द्वेष नहीं करता, और निवृत्त हो तो इच्छा नहीं करता। क्यों कि उन में उस का कोई स्वार्थ नहीं होता है। किन्तु ऐसे महान् ज्ञानी पुरुष स्वार्थ न होने पर भी भगवान् का अनुकरण कर के जगत् का हित करने के लिए कर्मयोगद्वारा सदा लोकसंग्रह के लिए कर्म किया करते हैं। उन की पवित्र आत्मा में से निकली हुई शक्ति का पुण्यप्रवाह ईश्वर की ओर को धावित होता है। और यह शक्ति अध्यात्मशक्ति में परिणत होकर जगत् के पालन-कार्य में जगदीश्वर की सहायता करने के लिए लग जाती है।

प्र०—कर्मयोगाचरण में मानसिक अवस्था किस प्रकार की होनी चाहिए?

उ०—कर्मयोग के लिए तीन प्रकार की मानसिक भावना का दृढ होना आवश्यक है। पहले, फलों की आकांक्षा को छोड़ना चाहिए। दूसरे, मैं करता हूँ, यह अभिमान छोड़ना चाहिए। तीसरे, ईश्वरार्पणबुद्धि रखनी चाहिए।

प्र०—फलों की आकांक्षा छोड़ने के विषय में गीता क्या कहती है?

उ०—फलाकांक्षावर्जन के विषय में गीता कहती है।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" [२।४७]

तेरा अधिकार सिर्फ कर्म करने का है। कर्मफलों में आकांक्षा मत रख। क्यों कि संसार में जो कुछ भी परिणाम होता है वह मनुष्य के कर्म से नहीं होता बल्कि परमात्मा की इच्छा से होता है। भगवान ने अर्जुन को अनेक प्रकार से समझाकर युद्ध करने के लिए कहा, तो भी अर्जुन युद्ध में प्रवृत्त न हुआ, तब परमात्मा ने अपना विश्वरूप दिखलाकर उसे यह जता दिया कि कौरवों को तूने [अर्जुन ने] नहीं मारा तो भी वे परमात्मा की इच्छा से स्वयमेव मर जायँगे।

"कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥"
[११।३२-३३]

काल के रूप में मैं लोगों का संहार करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। अर्जुन, तू युद्ध करना छोड़ भी दे तो भी ये सब मरने ही वाले हैं। इस लिए तू उठ और शत्रुओं को जीतकर राज्य का निष्कण्टक उपभोग कर। तू तो सिर्फ निमित्र-मात्र है। इस प्रकार गीता कहती है, कि जो कुछ परिणाम संसार में होता है वह परमात्मा की इच्छा से होता है। इस लिए मनुष्य को अपना कर्तव्य, फल की आकांक्षा छोड़कर करना चाहिए। परमात्मा की इच्छा के विरुद्ध सिर्फ मनुष्य के प्रयत्न से संसार में कुछ भी परिवर्तन नहीं हो सकता।

"तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।" [३।१९]

इस लिए अनासक्त होकर अपना कर्तव्य समझकर कर्म कर। इसी तरह के निष्काम कर्मी को लक्ष्य करके गीता कहती है—

"यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥" (४।१९-२१)

जिस पुरुष के सम्पूर्ण उद्योग कामनाओं से रहित हैं और जिस के सम्पूर्ण कर्म ज्ञान-अग्नि से नष्ट हो गये हैं, ज्ञानी लोग उसी को पण्डित कहते हैं। जो पुरुष कर्मों के फल में आसक्ति को त्याग कर सदा तृप्त और निराश्रय रहता है, वह पुरुष कर्म करता हुआ भी मानों कुछ नहीं करता। जिस ने सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग दिया है, जिस का चित्त और आत्मा स्वाधीन है जो केवल शरीर की स्थिति के लिए ही कर्म करता है वह पुरुष कर्म करते हुए भी पाप का भागी नहीं होता।

" असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।" (३।१९)

बिना आसक्त हुए कर्म करने से जीव परम पद को प्राप्त कर लेता है। जब फल में आकांक्षा नहीं रही तब कर्मी के लिए सिद्धि-असिद्धि, जय-पराजय, सफलता-असफलता, बराबर हो जाती है। इसी लिए भगवान् अर्जुन को उपदेश देते हैं—

"सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥" (२।३८)

"योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥" (२।४८)

यदि सुख--दुःख, लाभ--हानि, हार--जीत को बराबर समझकर युद्ध में प्रवृत्त होंगे तो तुम को पाप स्पर्श नहीं करेगा। आसक्ति छोड कर सिद्धि और असिद्धि को बराबर समझ योग में स्थिर होकर कर्म करो। इस समानता को ही योग कहते हैं। इस प्रकार के साधक को गीता योगारूढ कहती है।

"यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥" (६।४)

जब साधक सब संकल्पों का संन्यास कर के विषय और कर्म में आसक्त नहीं होता, उस समय उस को योगारूढ कहते हैं। गीता के मत में असली संन्यास और त्याग यही है।

" काम्यनां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः । " (१८।२)

" यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ " (१८।११)

कर्मयोग का प्रथमसोपान यही है।

प्र०—कर्तृत्वाभिमान–परित्याग के विषय में गीता क्या कहती है ?

उ०—गीता कहती है, कि मनुष्य को कर्म का जो बन्धन होता है, उस का प्रधान कारण जीव की अहंकारबुद्धि है। जब जीव सोचता है कि, यह कर्म मैंने किया, तब उस का फल यह होता है कि, कर्म आत्मा को बाँध लेता है और उस कर्म का फलाफल उस को भोगना पडता है।

" नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥ "

बिना भोग के सौ करोड़ कल्प तक भी कर्म का नाश नहीं होता। जो कुच्छ किया है, उस का फल जरूर भोगना पडेगा। इस भोग का कारण कर्तृत्वाभिमान है। जीव अभिमान के वशीभूत होकर सोचता है कि मैं ही कर्ता हूँ। किन्तु वास्तव में जीव अकर्ता है।

" प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ " [३।२७]

प्रकृति के गुणों से ही सब कर्म सिद्ध होते हैं। परन्तु अहंकार के वशीभूत होकर मूढ आदमी स्वयं अपने को कर्ता मान बैठता है।

" तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुध्दित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ " (१८।१६)

बुद्धि अपरिपक्व होने के कारण जो अपने को कार्य करनेवाला समझता है वह मूर्ख कुछ नहीं जानता। इस झूठ कर्तृत्वाभिमान को छोड़कर प्रकृति को यथार्थ कर्ता और अपने को केवल द्रष्टा समझना चाहिए।

" नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ " (१४।१९)

जब द्रष्टा विवेक से जान लेता है, कि जितने कार्य होते हैं उन के करने-वाले गुण ही हैं और यह जनता है कि इन गुणों के परे एक सद्वस्तु है, तब वह मेरे स्वरूप से मिल जाता है।

" प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ " [१३।२९]

प्रकृति के सामर्थ्य से ही सब कर्म हो रहे हैं, यह जो मानता है और जो अपने को करनेवाला नहीं समझता, वही ठीक जानता है। गीता फिर कहती है--

" यस्य नाहंकृतो भावो बुध्दिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥ "
[१८।१७]

अहंकार के बिना और कर्म में आसक्त न होकर यदि कोई लोगों को मार डाले तो भी उस को हत्या का दोप नहीं लगेगा और वह बद्ध न होगा। इस तरह का निरभिमान और निर्लिप्त व्यक्ति ही सच्चा ज्ञानी है।

" यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न लिप्यते । " (छान्दोग्य ४।१४-३)

जिस तरह कमल के पत्ते को जल स्पर्श नहीं करता उसी तरह ज्ञानी को पाप-पुण्य-रूप कर्म नहीं छूता।

" यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥ " (४।३७)

जैसे प्रदीप्त अग्नि काठ को जलाकर भस्म कर डालता है, उसी प्रकार ज्ञान-रूप अग्नि सब कर्मों को जला डालता है। ऐसे ज्ञानवान् मनुष्य को फिर संसार में नहीं आना पडता है।

" विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमाधिगच्छति ॥ " (२।७१)

जो पुरुष सब कामनाओं को छोडकर इच्छारहित हो जाता है, जिस में 'मैं और मेरा' भाव नहीं रहता उसी को शांति मिलती है।

" रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ " (२।६४)

अपने वश में की हुई, राग और द्वेष दोनो से ही छुटकारा पाई हुई, इन्द्रियों द्वारा विषयभोग करनेवाला मनोजयी पुरुष ही शान्ति लाभ करता है। जिस तरह अपार समुद्र का गाम्भीर्य नष्ट नहीं होता उसी तरह सब कामों को करते हुए भी कर्मयोगी की शान्ति नष्ट नहीं होती ।

" आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ "
(२।७०)

इस प्रकार कर्तृत्व-अभिमान छोडकर कर्म करना कर्मयोग का दूसरा सोपान है ।

प्र०—ईश्वरार्पणबुद्धि से कर्म करने के विषय में गीता क्या कहती है ?

उ०—गीता के उपदेशानुसार सब कर्मों को ईश्वरार्पण करना चाहिए और सब तरह से ईश्वर को आत्मसमर्पण कर के उसी के उद्देश्य से उसी का काम समझ-कर जगत् की भलाई के लिए कर्म करना चाहिए ।

इसी लिए भगवान् अर्जुन को उपदेश देते हैं—

" मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ " (३।३०)

" मैं परमात्मा का ही एक अंश हूँ । ओर वही मुझ से कर्म कराता है " यह निश्चय कर लो । सब कर्म मुझे अर्पण करो । फल की आशा छोड दो । अहंकार त्याग करो । और शोकरहित होकर युद्ध करो ।

" चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुध्दियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव ॥ " (१८।५७)

सब कर्मफलों को चित्त से मुझ को अर्पण कर । मुझे ही परमप्राप्य समझकर निश्चयात्मक बुद्धि से मन को स्वाधीन कर. चित्त को सदा मुझ में लगाओ । जो इस तरह कर्म करते हैं, उन का उद्देश्य स्वार्थसिद्धि या आत्मप्रीति नहीं है ।

उन का लक्ष्य है ईश्वर का काम करना। वह अपने को ईश्वर का करण समझते हैं। वह ईश्वर में ही अपनी क्षुद्र सत्ता को डुबा देते हैं। और अपने किये सब कर्मों के फल ईश्वर को ही अर्पण कर देते हैं। जो इस तरह कर्म कर सकते हैं उन के सौभाग्य की कोई सीमा नहीं।

" सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥" [१८।५६]

सब समय अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए जो मेरी प्राप्ति की इच्छा करता है, वह मेरी कृपा से अनादि और अव्यय पद प्राप्त कर लेता है। इस तरह कर्म करने से कर्म बन्धन का हेतु नहीं होता। क्यों कि करनेवाले के साथ कर्म का कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥" [५।१०]

जो कर्मफल की इच्छा न करते हुए कर्म करता, और सब कर्म ब्रह्म को अर्पण करता है, वह पाप से वैसा ही अलग रहता है जैसा कमल का पत्ता पानी से। भगवान् ने गीता में बार २ कहा है कि मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, यदि वह सब कर्म मुझे ही अर्पण कर दे तब उस को कर्म का बन्धन नहीं होता।

" यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥" (९।२७-२८)

हे कौन्तेय, तुम जो कुछ खाते हो, कर्म करते हो, आहुति देते हो, दान करते हो, वह सब मुझे अर्पण करो। ऐसा करने से शुभ और अशुभ फलरूप कर्मों के बन्धनों से छूट जाओगे और मुक्त होकर मुझ से मिलोगे। इस प्रकार कर्मफलों की आकांक्षा और कर्तृत्व-अभिमान छोडकर ईश्वरार्पणबुद्धि से लोकसंग्रहार्थ कर्म करना ही गीता का कर्मयोग है। और इसी तरह जीवन व्यतीत करने के लिए

गीता का उपदेश है। इस प्रकार गीता के बताये कर्मयोग को ज्ञान, ध्यान और भक्तियोग का भी अवलम्बन करना पड़ता है।

प्र०—ध्यान-योग के विषय में गीता क्या कहती है ?

उ०—गीता में मन एकाग्र करने के लिए अन्यान्य योग-प्रणालियों की तरह प्राणनिरोध आदि मार्गों के उपर जादा जोर नही दिया गया है। बल्कि वैराग्य और अभ्यास के बल से ही चित्तवृत्तियों को विषयों से अलिप्त रखने का उपदेश दिया गया है।

" असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ " (६।३५-३६)

मन निःसन्देह बहुत चंचल है, उसे निग्रह करना बहुत काठिण है। परन्तु हे अर्जुन, अभ्यास और वैराग्य से इस का निग्रह हो जाता है। जिस का मन स्वाधीन नहीं, उस को योग की प्राप्ति होना दुर्लभ है। परन्तु जिसने मन अपने स्वाधीन कर लिया उस को वैराग्ययुक्त अभ्यास करने मे योग की प्राप्ति हो सक्ती है।

प्र०—जिस को योगाभ्यास सिद्ध करना है उसे क्या करना चाहिए ?

उ०—" योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥" (६।१०-१४)

योगाभ्यास करनेवाले को ब्रह्मचर्य पालन करते हुए सब कामनाओं का त्याग कर, बाहरी सब मोहपाश छोड़ कर, भयरहित और शान्त चित्त से एकान्त में दर्भासन पर वस्त्र बिछाकर, शरीर, मस्तक और गर्दन, यथास्थान रखकर, चित्त और इंद्रियों की क्रियाओं को रोककर मन को एकाग्र कर के योगाभ्यास करना चाहिए ।

" संकल्पप्रभावान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥
यतो यतो निश्चराति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥" (६।२४-२६)

संकल्प से उत्पन्न होनेवाली समस्त कामनाओं का त्याग कर इधर उधर भटकनेवाली इन्द्रियों को मन के आधीन कर धैर्यद्वारा बुद्धि को अपने आधीन कर धीरे २ विषयों से दूर हटाना चाहिए । मन को भली भांति आत्मा में स्थिर करना चाहिए । और किसी भी बात की चिंता न करते हुए शांत हो जाना चाहिए । चंचल और अस्थिर मन जिधर २ जाय उधर २ से उसे खींच कर आत्मा के वश करना चाहिए ।

प्र०—योगाभ्यासी को आहारविहार कैसा रखना चाहिए ?

उ०—" नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥" (६।१६-१७)

ज्यादह खानेवाला या भूखा रहनेवाला, बहुत सोनेवाला या बहुत जागनेवाला इस योग को सिद्ध नहीं कर सकता । जिस के आहार, विहार, निद्रा, कर्म आदि सब व्यवहार सम्यक्‌रूप से हैं, ऐसे पुरुष को योग की सिद्धि होती है ।

प्र०—जिस का मन आत्मा में स्थित हो गया अर्थात् योगयुक्त हो गया, उस की मानासिक अवस्था कैसी रहती है ?

उ०—" यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥" (६।१८-२०)

अचल मन जब आत्मा में ही स्थिर होता है और उस में जब किसी भी प्रकार के उपभोग की लालसा नहीं रहती, तब उसे योगयुक्त कहना चाहिए। बिना हवा के स्थान में रखे हुए दीपक की ज्योति जिस प्रकार निश्चल रहती है, उसी प्रकार जिस का चित्त योगानुष्ठान से आत्मा में तल्लीन हो गया है वह बाहरी विषयों से चंचल नहीं होता। वह अपने आनंद में ही संतुष्ट रहता है। उस में राग, द्वेष, क्रोध आदि विकार पैदा नहीं होते और न बाहरी बातें इन विकारों को उद्दीपित करती हैं अर्थात् वह वीतरागी हो जाता है।

प्र०—गीता में ध्यानप्रणली किस प्रकार की है ?

उ०—" सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ " (८।१२)

" ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।" [८।१३]

" भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् । "
(८।१०)

" अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिंतयन् ॥ " (८।८)

अपने चित्त को कहीं इधर उधर भटकने न देकर अभ्यास से उसे एकाग्र कर ॐ का उच्चार करते हुए अपने हृदयकमल में या अपनी भौंहों के बीच में ध्यान लगाकर परमप्रकाश्य पुरुष का चिंतन करना चाहिए।

प्र०—ध्यानयोग का गीता में क्या महत्व है ?

उ०—" तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ " [६।४६]

मन को वशीभूत और एकाग्र किये बिना ज्ञान, कर्म और भक्ति में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती । इस लिए गीता में ध्यानयोग का महत्व सब योगों से बढ़कर बतलाया है । तथापि सिर्फ ध्यानयोग में सिद्धि प्राप्त होने से ही पूर्णत्व प्राप्त नहीं होता, उस को ज्ञान, भक्ति और कर्म का भी अवलम्बन करना आवश्यक है ।

प्र०—अन्य दर्शनों में बताए हुए ज्ञानमार्ग और गीता के ज्ञानयोग में क्या भेद है ?

उ०—अन्य दर्शनों का ज्ञानमार्ग और गीता का ज्ञानयोग एक सरीखा नहीं है । क्यों कि ज्ञानवादी जिस को कैवल्यप्राप्ति का उपाय बताते हैं, वह चित् और जड का विवेकज्ञान है, सत् और असत् वस्तु का विचारलब्ध ज्ञान है । पर गीता जिस ज्ञान का उपदेश करती है वह तत्वज्ञान है, जिस को परा-विद्या कहते हैं । उसी के सहारे परम पुरुष को प्राप्त किया जाता है । गीता के मत में वही ज्ञान है जिस के द्वारा जीव समस्त प्राणियों को पहले अपने में और फिर ईश्वर में देखता है ।

" सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ " (६।२९-३१)

" यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ " (१३।३०)

" यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ " (४।३५)

जिस का आत्मा ज्ञानयुक्त हो चुका है, उस की दृष्टि सर्वत्र सम हो जाती है और उसे सब भूत अपने में और आप भूतों में दिखलाई देने लगता है । मैं

[परमेश्वर, परमात्मा] सब जगह में व्याप्त हूँ ऐसा जो देखता है और मेरे में सब है ऐसी जिस की दृष्टि हो चुकी है उस से मैं विमुख नहीं रहता और न वह मुझ-से विमुख रहता है। एकत्वबुद्धि याने सर्वभूतात्मैक्यबुद्धि मन मे रखकर, मैं (परमात्मा) सब भूतों में निवास करनेवाला हूँ इस रूप में जो मुझे पाता है वह ज्ञानयोगी कहीं भी रहते हुए मुझ में ही रहता है। जब वह भिन्न २ भूतों को एक ही ईश्वर में देखने लगता है, तब वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। ज्ञानयोग की प्राप्ति होने से मनुष्य को, हे पांडव, फिर मोह नहीं होता और उस ज्ञान से यावन्मात्र भूत स्वयं तेरे में और फिर मेरे में हैं ऐसा तुझे ज्ञान होगा। इस तरह के ज्ञानी सब भूतों में भगवान् को ही देखते हैं। उन की सब में समान बुद्धि हो जाती है। ऐसे ही व्यक्ति गीता के मतानुसार सच्चे ज्ञानयोगी हैं।

प्र०—किस प्रकार के मनुष्य को ज्ञानयोग की सिद्धि होती है?

उ०—"**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेंद्रियः।**
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति॥" (४।३९)
"**अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।**" (४।४०)

जो श्रद्धावान, तत्पर और जितेन्द्रिय है, वही ज्ञानयोग का अधिकारी है। संशयी, श्रद्धा और चरित्र से हीन व्यक्ति को ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।

प्र०—कौन से ज्ञानी मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं?

उ०—"**निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।**
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥"
(१५।५)

जिन का अहंकार और मोह दूर हो गया है, जो संसार से अनुरागहीन हो गया है, जो अध्यात्म विचारों में तल्लीन हैं, जिन की सब इच्छाएँ पूर्णतया नष्ट हो चुकी हैं, जो सुख और दुःख के द्वंद्वों से अतीत हो गया है, उस ज्ञानी को यह शाश्वत पद प्राप्त होता है।

"**वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।**
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥"
(८।२८)

बेदों के अध्ययन से, यज्ञों से, तपश्चर्या से और दान से जो पुण्यरूप फल मिलता है उन सब से भी अधिक फल (मुक्ति) योगी को जीव और ब्रह्म के एकत्वज्ञान से मिलता है।

" तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छंत्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ (५।१७)

उस परमार्थतत्व [जीवब्रह्मात्मैक्य] में जिस की बुद्धि रममाण हो चुकी, उसी में जिस का अंतःकरण रंग चुका और उसी में जिस की निष्ठा और परायणता हो चुकी, उस ज्ञानी के पाप धुलकर नष्ट हो जाते हैं, और वह फिर जन्म धारण नहीं करता।

" बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ " [५।२१]

बाह्य विषयों में जिस का चित्त आसक्त नहीं हुआ है, आत्मिक आनन्द में ही जिस का सुख है और जो ब्रह्म में विलीन हो गया है, उसे अक्षय सुख प्राप्त होता है।

"योऽतःसुखोऽतरारामस्तथांतर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥" (५।२४)

जिसे आत्म-स्वरूप में ही सुख होता है, जो आत्मस्वरूप में ही क्रीडा करता है, जिस की आत्मस्वरूप में ही दृष्टि है, वह व्यक्ति ब्रह्म से एकरूप होता हुआ ब्रह्म में ही लीन हो जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है।

"युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते ॥" (६।२८)

ब्रह्मात्मैक्यबुद्धि में हमेशा लीन रहनेवाला ज्ञानयोगी सब पापों से छूटकर ब्रह्मरूप आनन्द को लूटता है।

" वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ " (४।१०)

जिस में प्रीति, भय और क्रोध आदि विकार विद्यमान नहीं हैं, जो ज्ञान के आश्रय से ब्रह्ममय हो गये हैं, जो ज्ञानरूपी तपस्या से पवित्र हो गये हैं वे योगी मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं।

"न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥" (५।२०)

जिस ने ब्रह्म को जान लिया और ब्रह्ममय हो गया वह प्रिय के मिलने से आनन्दित नहीं होता और अप्रिय के मिलने से दुःखी भी नहीं होता।

"इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥" (५।१९)

जिस के मन में इस प्रकार की समता उत्पन्न हो गई है, उस ने इस लोक में रहकर ही संसार को जीत लिया है। क्यों कि ब्रह्म के निर्दोष और सम होने से साम्यबुद्धिवाले [ब्रह्मात्म्यैक्यबुद्धि से जगत् को देखनेवाले] पुरुष सदैव ब्राह्मी-भूत रहते हैं।

"तरति शोकमात्मवित्।
ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति॥" (श्रुति)

इस प्रकार ज्ञानयोग से ब्रह्मात्म्यैक्यबुद्धि रखकर जीवन व्यतीत करने के लिए गीता का उपदेश है।

प्र०—भक्तियोग के विषय में गीता क्या कहती है?

उ०—क्या कर्म, क्या ध्यान, और क्या ज्ञान, गीता ने सभी के साथ ईश्वरभक्ति को संयुक्त किया है। जिस तरह सूत्र में मणियाँ पुरी रहती हैं उसी तरह गीता में बताये कर्म, ज्ञान और ध्यान के बीच में ईश्वर पूर्ण हो रहा है। गीता के कर्मवाद, ध्यानवाद और ज्ञानवाद में ईश्वरवाद भरा हुआ है। गीता में भक्ति का स्थान बहुत ऊँचा है। भक्ति साधक के मार्ग में प्रधान सहारा है। भगवान् कहते हैं—

"दैवीह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥" (७।१४)

मेरी यह अति दिव्या और त्रिगुणात्मिका माया अत्यंत दुस्तर है। जो अनन्य भाव से मेरा ही भजन करते हैं, वे ही इसको पार कर सकते हैं।

प्र०—क्या गीता के मत में सिर्फ भक्ति से ही मुक्ति हो सकती है?

उ०—गीता में जिस भक्ति को भगवान् ने मायारूप समुद्र को तरने की तरणि बतलाया है वह भक्ति, ज्ञान-कर्म-ध्यान-वर्जित नहीं है। उस भक्ति के साथ ज्ञान-कर्म और ध्यान अपूर्व समन्वय के डोरे में गुँथे हुए हैं।

> "तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
> ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
> तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
> नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥" (१०।१०-११)

जो प्रेम से मेरा सदैव भजन करते हैं, उन को मैं ऐसी बुद्धि देता हूँ, जिस से वे मुझे प्राप्त कर सकें। उन पर अनुग्रह करने के लिए मैं उन की बुद्धि में वास कर ज्ञानदीपक की सहायता से अज्ञानमूलक अन्धकार का नाश करता हूँ। ज्ञान भक्ति से अलग नहीं है। इसी बात को समझाने के लिए गीता कहती है।

> "मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।" [१३।१०]

अनन्यभावयुक्त एकनिष्ठ भक्ति ही ज्ञान है।

> "ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
> अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
> तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
> भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
> मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
> निवसिष्यसि मय्येव अतऊर्ध्वं न संशयः॥" (१२।६-८)

जो अपने सब कर्म मुझे अर्पण कर मुझपर ही भरोसा रखकर अनन्यभक्ति से मेरा ध्यान करते हैं और मेरी सेवा करते हैं, उन पुरुषों को मैं अल्प समय में ही मृत्यु और जन्म रूपी समुद्र से पार कर देता हूँ। मुझ में चित्त स्थिर कर, मुझ में

ही बुद्धि स्थिर कर। इस प्रकार मुझ में तेरी वृत्ति तदाकार होने से तू मत्स्वरूप हो जायगा, इस मे संदेह नहीं।

" मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥" (११।५५)

सब कर्म परमात्मा के हैं इस बुद्धि से कर्म करनेवाला, मत्परायण, अनुरागहीन और किसी भूत से वैर न रखनेवाला मेरा भक्त मुझ से अवश्य मिल जाता है।

इस प्रकार गीता की बताई हुई भक्ति में ज्ञान, कर्म और ध्यान मिले हुए हैं।

प्र०—गीता के मतानुसार किस प्रकार के भक्त भगवान् को प्रिय हैं?

उ०—" अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥
तुल्यनिंदास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥"
(१२।१३-१९)

जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो भूतमात्र का मित्र है, जो दयाशील है, जिस में "मेरा और मैं" भाव नहीं है, जिसे सुख—दुःख दोनो समान हैं, जो क्षमावान् है, जो हमेशा प्रसन्न, स्थिरचित्त, संयमित मन, दृढनिश्चयी है और

जिसने मन और बुद्धि मुझे अर्पण कर दी हैं वह भक्त मुझे प्यारा है। जिस से न लोगों को भय है, न उसे किसी से भय है, जो दूसरों का हर्ष, क्रोध, सुख, देखकर खेद, भय और विषाद से मुक्त हो गया है, वह मुझे प्यारा है।\ जोकुछ भी मिले उसी में सन्तुष्ट, पवित्र, आलस्यहीन, पक्षपातहीन, दुःखरहित और फल की आशा छोडकर कर्म करनेवाला भक्त मुझे प्रिय है। जो आनन्द से फूलता नहीं, दुःख से घबरता नहीं, इष्ट पदार्थ के नाश से शोक नहीं करता, किसि का लोभ नहीं करता, जिस ने शुभ और अशुभ दोनों का त्याग किया है, और जो भक्तिमान् है, वह मुझे प्रिय है। जो शत्रु-मित्र, मान-अपमान, गरमी-सरदी और सुख-दुःख को समान समझता है और जिसने सब प्रकार का संग त्याग दिया है, वह मुझे प्रिय है। जिस के लिये निन्दा और स्तुति समान हैं, जो मितभाषी है, सदा संतुष्ट रहता है, जिस का चित्त स्थिर है और जिस के सब कर्म फलाशारहित होते हैं, वह भक्त मुझे प्रिय है।

प्र०—गीता के मतानुसार ज्ञान की चरम अवस्था—ब्रह्म—को मनुष्य ज्ञान, भक्ति, ध्यान और कर्म के जरिये किस तरह प्राप्त कर सकता है?

उ०—"बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भुतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥" (१८।५१-५६)

शुद्ध बुद्धि से युक्त होकर, धैर्य से अपने चित्त का नियमन कर, विषयों से इन्द्रियों को छुडाकर, काम और क्रोध का संहार कर, एकान्त स्थान में वास कर, मिताहारी बनकर, देह, वचन और मन को अपने आधीन कर, ध्यान बल से परब्रह्म में चित्त को लगाकर, वैराग्य धारण कर और अहंकार, दुराग्रह, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह और ममत्व को छोडकर जो पुरुष शान्त हो गया है, वह ब्रह्मभूत होता है। जो ब्रह्ममय हो गया है, वह सदा प्रसन्नचित्त रहता है, वह गये का शोक नहीं करता और पाने की इच्छा नहीं करता, जीवमात्र को सम दृष्टि से देखता है तथा मेरी परम भक्ति प्राप्त करता है। भक्ति से "मैं कितना और कौन हूँ" इस का उसे तात्विक ज्ञान हो जाता है, और इस तरह मुझे तात्विक रूप से जानते ही वह मुझ में प्रवेश करता है और सदैव सब कर्म करते हुए भी मेरे अनुग्रह से शाश्वत और अव्यय स्थान को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार गीता ने कर्मवाद, भक्तिवाद, ध्यानवाद और ज्ञानवाद का अपूर्व मिश्रण कर के **समन्वयवाद का उपदेश** दिया है। जीव को ब्रह्मत्व प्राप्त करने के लिए इन चारों मार्गों को अपने वश में करना होगा। जीव के सम्पूर्ण विकास के लिए अकेला कर्म, अकेला ज्ञान, अकेली भक्ति या अकेला ध्यान ही काफी नहीं है। इस से आत्मा का सिर्फ आंशिक विकाश होता है। इस लिए कर्म, ज्ञान, भक्ति और ध्यान इन चारों का समन्वयरूप से अवलम्बन कर के आत्मोन्नति करने के लिए गीता का उपदेश है।

प्र०—गीता किस वाद में गर्भित है ?

उ०—जगत और जगदीश्वर के सम्बन्ध में गीता क्या कहती है—

> **"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।**
> **मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥**
> **न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।**
> **भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥"** [९।४-५]

मेरा स्वरूप अव्यक्त है। इसी स्वरूप के द्वारा मैं व्याप रहा हूँ। मुझ में सब भूत हैं, मैं उन में नहीं हूँ। इन सब भूतों ने भी मुझे व्याप नहीं रखा। यह संसार मेरा

योगयुक्त लीलामय कर्म है। मेरी आत्मा सब भूतों का पालन करती है। वही सब भूतों का आधार है। पर मैं फिर भी भूतस्थ नहीं हूं। गीता के इन वचनों में कहीं भी जगत् के मिथ्या होने का उपदेश नहीं मिलता। जगत् काल्पनिक है, विज्ञानमात्र है, ऐसा उपदेश गीता में कहीं नहीं पाया जाता। किन्तु गीता कहती है—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।" [२।१६]

सत् का अभाव नहीं होता और असत् का भाव नहीं होता। गीता इस प्रकार परिणामवाद का ही समर्थन करती है। यह सांख्य के मत से मिलता हुआ मत है। सांख्यवादियों का भी यही मत है, कि—

"नासदुत्पद्यते, न सद् विनश्यति।"

असत् उत्पन्न नहीं होता और सत्का नाश नहीं होता। अद्वैतमतानुसार विवर्तवाद का उपदेश गीता में नहीं मिलता किन्तु सांख्यमतानुसार गीता परिणामवाद का ही अनुमोदन करती है।

सप्तम अध्याय।

हिन्दूधर्म का सैध्दान्तिक विवेचन।

प्रश्न—ब्रह्म के लक्षण क्या हैं?

उत्तर—"यतो विश्वं समुद्भूतं येन जातञ्च तिष्ठति।
यस्मिन् सर्वाणि लीयन्ते ज्ञेयं तद्ब्रह्म लक्षणैः॥"

[महानिर्वाण तंत्र २।३४]

जिस से यह विश्व पैदा हुआ, जिस में यह विश्व स्थित है और फिर जिस में सम्पूर्ण विश्व लीन होता है वही ब्रह्म है।

"स एक एव सद्रूपः सत्योऽद्वैतः परात्परः।
स्वप्रकाशः सदापूर्णः सच्चिदानन्दलक्षणः॥" [म.नि.तं. २।३५]

वह ब्रह्म एक है, सत्‌रूप है, सत्य है, सब के परे है, अपने आप प्रकाशरूप है, हरदम पूर्ण स्वरूप और सच्चिदानन्दरूप है।

"निर्विकारो निराधारो निर्विशेषो निराकुलः।
गुणातीतः सर्वसाक्षी सर्वात्मा सर्वदृग्विभुः॥" [म.नि.तं. २।३६]

वह सब प्रकार के विकारों से रहित, गुणों से अतीत, सब का साक्षीभूत, सब जीवों का बृहत् आत्मा, सब को देखनेवाला और सब का स्वामी है।

"गूढः सर्वेषु भूतेषु सर्वव्यापी सनातनः।
सर्वेंद्रियगुणाभासः सर्वेंद्रियविवर्जितः॥" [म.नि.तं. २।३७]

वह सब भूतों में गुप्त रूप से विद्यमान है, सब जगह व्याप्त है, सनातन (अनादि-अनंत) है, सब इन्द्रियों और उन के गुणों का प्रकाशक और सब प्रकार की इन्द्रियों से रहित है।

"लोकातीतो लोकहेतुरवाङ्मनसगोचरः ।
स वेत्ति विश्वं सर्वज्ञस्तं न जानाति कश्चन ॥"
(मा. नि. तं. २।३८)

वह ब्रह्म सब लोकों से परे है सब विश्व का आदिकारण है, मन और वचन से अगोचर है, वह सम्पूर्ण विश्व को जाननेवाला सर्वज्ञ है, दूसरा कोई उस को नहीं जान सकता।

"तदधीनं जगत् सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
तदालम्बनतस्तिष्ठेदवितर्क्यमिदं जगत् ॥"
(महानिर्वाण तन्त्र २।३९)

यह सम्पूर्ण जगत्, तीनों लोक तथा सब प्रकार की चराचर वस्तुएँ अतर्क्य रूप से उस के आधीन और आलम्बन में स्थित हैं।

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो
भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भांतमनुभाति सर्वं तस्य भासा
सर्वमिदं विभाति ॥" (कठोपनिषद् ५।१५)

जहाँ पर सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र या विद्युत् किसी का प्रकाश नहीं पहुँच सकता और अग्नि का प्रकाश तो दूर ही रहा, वहाँ पर भी इस ब्रह्म का प्रकाश है और इसी से ये सब सूर्य चन्द्रादि प्रकाशित होते हैं।

"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परि
पश्यन्ति धीराः ॥" (मुंडकोपनिषद् १।६)

जो ज्ञानेन्द्रियों से देखने में और कर्मेन्द्रियों से ग्रहण करने में अशक्य है, मूल-रहित, गुणरहित, आँख और कान से रहित, हाथ और पैरों से रहित, नित्य, विभु (ब्रह्मदेव से स्थावर तक सब प्राणियों के रूप में रहनेवाला) सर्वव्यापी, अत्यंत सूक्ष्म और क्षयरहित तथा सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति का कारण है उस को ज्ञानी ब्रह्म कहते हैं।

प्र०—यह जगत् कब पैदा हुआ ?

उ०—" **संसारस्य अनादित्वात् ।** "   (ब्रह्मसूत्र)

संसार अनादि है। जिस प्रकार मनुष्य को स्वप्नसृष्टि के सम्बन्ध में वह कब से शुरू हुई, क्यों शुरू हुई और इस के पहले क्या हालत थी, इत्यादि बातों को समझने के लिए स्वप्नसृष्टि से अलग जागृत-अवस्था प्राप्त करनी पडती है, उसी प्रकार जब तक मनुष्य मायारूपी संसार में है तब तक मायारूपी मनबुद्धि आदि से इस की उत्पत्ति इत्यादि का पता लगाना असंभव है, अतएव माया-संसार से अलग होने पर ही इन बातों का खुलासा हो सकता है।

प्र० —जगत् को किस ने पैदा किया ?

उ० —जगत् का कोई कर्ता नहीं है वह स्वयंसिद्ध है।

" **असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । तदात्मानं स्वयमकुरुत ॥** "   (तैत्तिरीयोपनिषद् ७।१)

यह सब जगत् पहले असत् (नामरूपादिवैशिष्ट्य-रहित) था उस से सत् उत्पन्न हुआ और उसने स्वयं अपने को उत्पन्न किया।

" **सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत । यदिदं किञ्च । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाऽभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च । विज्ञानं चाविज्ञानं च । सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् ।** " (तै. उ. ६।२-७)

उस जगत् के कारण—आत्मा को मैं अनेक हो जाऊँ और प्रजा उत्पन्न करूँ ऐसी इच्छा हुई, इसलिए उसने तपश्चरण किया। तपश्चरण के बाद जो २ कुछ अस्तित्व में है उन सब को निर्माण किया।

निर्माण करने के बाद उन सब में उसने प्रवेश किया प्रवेश करने के बाद वह मूर्त और अमूर्त हो गया। निरुक्त (देशकालादि-विशिष्ट) और अनिरुक्त हुआ। निलय (स्थान) और अनिलय हुआ। विज्ञान और अविज्ञान तथा सत्य और असत्य रूप हुआ।

" **स यथोर्णनाभिस्तंतुनोच्चरेद्यथाग्नेःक्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति ॥** "   (बृहदारण्यकोपनिषद् २।१।२०)

जिस प्रकार मकडी अपने ही तन्तु से ऊपर चढती है, जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ स्वयमेव ऊपर उठती हैं, उसी प्रकार इस परब्रह्म से सब इन्द्रियाँ, सब लोक, सब देव और सब जगत् पैदा हुए।

" सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।
स तत्र एकाकी न रमते, तदैक्षत, एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेयेति॥ "
(छांदोग्योपनिषद्)

सबसे पहले जिसकी समानता में दूसरा कोई नहीं ऐसा एक ही सिर्फ सत् तत्व था। उसको अकेले अच्छा नहीं लगा, इस लिए उसको बहुत होने की इच्छा हुई और उसने सब सृष्टि निर्माण की।

प्र०—जगत् क्यों पैदा हुआ ?

उ०—जिस प्रकार बच्चे अपने आनंद के लिए खेल खेलते हैं या जिस प्रकार लोग अपने मन-बहलाव के लिए सुख-दुःखान्तक नाटक किया करते हैं, उसी प्रकार उस परमात्मा ने भी इस जगत् का खेल अपने आनंद के लिए शुरु किया है।

" आनंदो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनंदाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायंते। आनंदेन जातानि जीवंति। आनंद प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति॥ "
(तैत्तिरीयोपनिषद्)

आनन्द से सब प्राणी पैदा होते हैं और आनन्द में ही वे जीवित रहते हैं। अन्त में आनन्द में ही वे लय को प्राप्त होते हैं।

" लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्॥ " (वे. सू. २, १, ३३)

यह जगत् परमात्मा की लीला मात्र है।

प्र०—यह जगत् किस रीति से पैदा हुआ ?

उ०—**" सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारो अहंकारात् पञ्च तन्मात्राणि, उभयमिंद्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूल भूतानि पुरुष इति॥ "** (सांख्यकारिका)

सत्व, रज और तम इन तीनों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। प्रकृति से महत्तत्व और उससे अहंकार, अहंकार से मन, और मन से पाँच कर्मेन्द्रिय, पांच

ज्ञानेन्द्रिय और उसकी तन्मात्रा अर्थात् शद्व, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पैदा हुए और इन से पृथ्वी, आप्, तेज, वायु और आकाश पैदा हुए।

" एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः॥ " (तैत्तिरीयोपनिषद् १।४)

परमात्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से वनस्पति, और वनस्पति से अन्न, इस क्रम से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है।

इस प्रकार सृष्टि के विषय में दो प्रकार के मत पाये जाते हैं। वास्तव में उन दोनों में कुछ भी भेद नहीं है। क्योंकि शक्तिरूपिणी प्रकृति और शक्तिमान् परमात्मा दोनों अभिन्न हैं।

" ब्रह्मणः सकाशान्नानाविचित्रजगन्निर्माणसामर्थ्यबुद्धिरूपा ब्रह्मशक्तिरेव प्रकृतिः॥ " (श्रुति)

जिस में विचित्र जग-निर्माण-सामर्थ्य है और जो ब्रह्म से ही उत्पन्न होती है, उस ब्रह्मशक्ति को प्रकृति कहते हैं।

" मायान्तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनन्तु महेश्वरम्। "

प्रकृति को ही अद्वैत मत में माया कहते हैं और माया भी प्रकृति के अनुसार त्रिगुणात्मिका मानी गई है।

प्रलयकाल में परमात्मा के अधिष्ठानद्वारा साम्यस्थ प्रकृति में वैषम्य होकर (चाहे वह वैषम्य ईश्वर की इच्छा से हो या चाहे जीवों के शेष कर्मों की परिपक्वता की प्रेरणा से हो) महत्तत्व पैदा होता है। महत्तत्व त्रिगुणात्मक (सात्विक, राजसिक और तामसिक) है। महत्तत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंतत्व भी सात्विक राजसिक और तामसिक भेदयुक्त है। इस के बाद अहंतत्व के सत्व, रज और तम गुण विषमता के कारण अपने ३ गुणों की विशेषतायुक्त अलग ३ पदार्थ निर्माण करते हैं।

प्र०—सात्विक, राजसिक और तामसिक अहंकार से सृष्टि के कौन २ से पदार्थ पैदा होते हैं ?

उ०—"**भूततन्मात्रसर्गोऽयमहंकारात्तु तामसात् ।**
तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवा वैकारिका दश ॥
एकादशं मनश्चात्र देवा वैकारिकाः स्मृताः ।" (विष्णुपुराण)

तामासिक अहंकार से भूत तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है । राजस अहंकार से पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँचज्ञानेंद्रियों की उत्पत्ति होती है । सात्विक अहंकार से देवता उत्पन्न होते हैं । सात्विक अहंकार ज्ञानशक्तिप्रधान है । राजसिक अहंकार क्रियाशीलप्रधान है और तामसिक अहंकार द्रव्यशक्तिप्रधान है ।

प्र०—तामसिक अहंकार से क्या उत्पन्न हुआ ?

उ०—विकार-प्राप्त तामासिक अहंकार से आकाश उत्पन्न हूआ और आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई । ये पंच तत्व पंचमहाभूत कहलाते हैं । इनके निज के गुण निम्न प्रकार हैं—

"**शब्दमेकमाकाशस्य । शब्दस्पर्शाविति वायुगुणौ । शब्दस्पर्शरूपाण्यग्नेर्गुणाः । शब्दस्पर्शरूपरसा अपां गुणाः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पृथिवीगुणाः ॥**"

आकाश का गुण केवल शब्द है । वायु के गुण शब्द, स्पर्श हैं । अग्नि के गुण शब्द, स्पर्श और रूप हैं । जल के गुण शब्द, स्पर्श, रूप और रस हैं । और पृथ्वी के गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं ।

प्र०—इन्द्रियाँ कैसे उत्पन्न हुईं ?

उ०—राजसिक अहंकार से ।

"**यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माऽभिव्याहाराय वागथ यो वेदेदं ॐ श्रृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रमथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः ।**"

राजसिक अहंकार के कारण जीवात्मा को सूगने की इच्छा हुई इस लिए घ्राणेन्द्रिय पैदा हुई। बोलने की इच्छा हुई इस लिए वाणी पैदा हुई। सुनने की इच्छा हुई इस लिए कर्णेन्द्रिय पैदा हुई। देखने की इच्छा हुई इसलिए चक्षु [आँख] इन्द्रिय पैदा हुई। और मनन करने की इच्छा हुई इस लिए मन पैदा हुआ। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ और हाथ, पाँव, गुदा, उपस्थ इत्यादि पाँच कर्मेंद्रियाँ बनाई गई।

प्र०—सात्विक अहंकार से उत्पन्न हुए देवताओं से क्या प्रयोजन है ?

उ०—जगत् का सब कार्य नियमित रूप से चलाने के लिए सात्विक अहंकार से ईश्वर की बहुत सी शक्तियाँ पैदा हुई। उन को ही देवता कहते हैं। ईश्वर की अनन्त शक्ति मुख्यतया तीन विभागों में विभक्त होकर उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कार्य सम्पादन करती हैं। उन्ही तीन शक्तियों के क्रम से ब्रह्मा, बिष्णु और महेश नाम हैं।

" तिस्रो देवताः। "
" त्रयस्त्रिंशत् ततः प्रभुतापि कार्यवैलक्षण्यात्। " [दैवीमीमांसा]

मुख्य देवता तीन हैं। और उपदेवता ३३, और उस से कार्यभेदानुसार अलग २ असंख्य देवता हैं।

प्र०—तेतीस देवता कौन २ हैं ?

उ०—" त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयास्त्रिंशाविति ॥ " (बृहदारण्यक उपनिषद् ३-९-२)

आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति ये ३३ देवता हैं।

प्र०—वसु किसे कहते हैं ?

उ०—अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः। " (बृहदारण्यक उपनिषद् ३-९-३)

अग्नि, पृथ्वी, वायु, अंतरिक्ष, सूर्य, आकाश, चंद्रमा और तारागण इन को वसु कहते है। वसु का मतलब है रहना अर्थात् जिस में सब चराचर वस्तु विद्यमान है उसे वसु कहते हैं।

प्र०—आदित्य किसे कहते हैं ?

उ०—" **द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्याः ।**" (बृ.उ. ३।९।५)

संवत्सर (वर्ष) के १२ मास आदित्य कहाते हैं। ये सब को लेकर चलते हैं। (आददाना यान्ति) इसलिए इन्हें आदित्य कहते हैं।

प्र०—रुद्र किसे कहते हैं ?

उ०—" **दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते ।**" (बृ. उ. ३।९।४)

ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और मन इन की रुद्र संज्ञा है।

प्र०—प्रजापति किसे कहते हैं।

उ०—जिस यज्ञ से द्वारा यह सब विश्व दृक्ष्यमय हुआ ऐसे यज्ञ को प्रजापति कहते हैं।

प्र०—ब्रह्माण्ड कितने हैं ?

उ०—" **अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येतादृशान्यनन्तकोटि ब्रह्माण्डानि सावरणानि ज्वलन्ति ।**" (श्रुति)

इस ब्रह्माण्ड की चारों दिशाओं में इसी प्रकार के अनन्त कोटि सावरण ब्रह्माण्ड प्रकाशमान हैं।

" ससर्वावरणा एते महत्यन्तविवर्जिते ।
ब्रह्माण्डा भान्ति दुर्दृष्टेर्व्योम्नि केशोण्डको यथा ॥
शुद्धबोधमये तस्मिन् परमालोकवारिधौ ।
अजस्रमेत्य गच्छन्ति ब्रह्माण्डाख्यास्तरंगकाः ॥
केषाञ्चिदन्तः कल्पान्तः प्रवृत्तो घर्घरारवः ।
न श्रुतोऽन्यैर्न च ज्ञातःस्वभावेन रसाकुलैः ॥
अन्येषां प्रथमारम्भे शुद्धभूषु विजृम्भते ।
सर्गःसंसिक्तबीजानां कोषेऽङ्कुरकला यथा ॥
महाप्रलयसम्पत्तौ सूर्यार्चिर्विद्युतोऽद्रयः ।
प्रवृत्ता गलितुं केचित्तापे हिमकणा इव ॥
केचिद् विचित्रसर्गेशाः केचित्तिर्यङ्मयान्तराः ।
केचिदेकार्णवापूर्णा इतरे जनिवर्जिताः ॥ " [योगावासिष्ठ]

आकाश में केशकण की तरह अनंत शून्य में अन्तहीन कोटि २ सावरण ब्रह्माण्ड विराजमान हैं। शुद्ध ज्ञानमय ज्योतिर्मय ब्रह्मसमुद्र में अनंत ब्रह्माण्डरूपी अनंत तरंगों का उदय और लय हो रहा है। किसी में कल्पान्तकालीन नाश का समय आने से उस की सूचनारूप घर्घर ध्वनि हो रही है। जिस को अन्य ब्रह्माण्ड के लोग कुछ भी नहीं सुन सकते हैं। कहीं पर बीजकोष से अंकुर-निर्गमन की तरह अभी सृष्टि आरम्भ ही हो रही है। किसी ब्रह्माण्ड में महाप्रलय होने का समय आ गया है, जिस से उत्ताप के संयोग से हिमकण की तरह पंचभौतिक समस्त पदार्थ गलने लग गये हैं। कहीं पर देव, दानव, यक्ष, गन्धर्व, मनुष्य और पशु आदि से पूर्ण विचित्र सृष्टि देखने में आ रही है। कहींपर केवल तिर्यग्योनि के जीव ही विचरण कर रहे है। कहीं समस्त ब्रह्माण्ड जलमग्न हो गया है और कही जीवशून्य भूमि दिखालाई दे रही हैं। इसी प्रकार महाशून्य में पृथक् २ आवरण से पृथक् भाव-प्राप्त अनंत कोटि ब्रह्माण्ड अनंत काल से घूम रहे हैं। इसी को अध्यात्मिकी सृष्टि कहते हैं और यह अनादि—अनंत है।

" अनाद्यनन्ताऽऽध्यात्मिकी सृष्टिः । " (दैवीमीमांसा)

इसी को गीता में " **स्वभावोऽध्यात्म उच्यते** " अर्थात् इस प्रकार यह ब्रह्माण्ड का कार्य सदैव नित्यरूप से होते रहना प्रकृति (माया) का स्वभाव है।

" अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते ।
अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्त संगमाः ॥ " (विष्णुपुराण)

महाप्रकृति की अर्थात् माया की स्वाभाविक त्रिगुण-तरंगमय लीलाविलास-जनित आध्यात्मिक सृष्टि का अनंत विस्तार है, जिस की न उत्पत्ति है और न नाश है। परन्तु आधिदैविक सृष्टि अर्थात् एक ब्रह्माण्डमयी सृष्टि नित्या नहीं है। अर्थात् एक ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होता रहता है।

प्र०—क्या प्रत्येक ब्रह्माण्ड के देवता अलग २ हैं ?

उ०—**" संख्या चेद् रजसामस्ति विश्वानां न कदाचन ।**
ब्रह्माविष्णुशिवादीनां तथा संख्या न विद्यते ॥
प्रतिविश्वे सन्त्येव ब्रह्माविष्णुशिवादयः । " (देवीभागवत)

प्रत्येक ब्रह्माण्ड का कार्य अलग २ होने से उस की शक्तियाँ भी अलग २ कार्य करती हैं । अर्थात् जितने ब्रह्माण्ड हैं उन प्रत्येक में शक्तिरूपी ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादि देवता अलग २ हैं ।

प्र०—यह सब शक्तिरूपी देवता क्या स्वतंत्र हैं ?

उ०—“ **इंद्रादयो लोकपालाः सर्वे तद्वशवर्तिनः ।**
स्वे स्वेऽधिकारे निरतास्ते शासति तदाज्ञया ॥ ”

(महानिर्वाण तन्त्र)

हरएक ब्रह्माण्ड के इन्द्र, विष्णु शिव, आदि लोकपाल परमात्मा के वशीभूत हैं और उस की आज्ञानुसार ही सब कार्य चलता है ।

प्र०—परमात्मा ने जगत् में विषमता क्यों पैदा की ?

उ०—परमात्मा ने विषमता पैदा ही नहीं की । सुख—दुःख, अच्छा—बुरा, यह सब मन का ही खेल है । जिस प्रकार नाटक में जिसे जो वेष लेने में आनन्द होता है वह उसी वेष को ग्रहण कर के अच्छी तरह कर दिखाता है, परन्तु नाटक का पात्र केवल थोडी देर तक अपने मनोरंजन के लिए स्वीकार किया है और वस्तुतः मेरी स्थिति और स्वरूप नाटक के वेषों से सर्वथा भिन्न है, यह ख्याल पात्र के हृदय में पूर्णतया जागृत रहने से राजा, नौकर, स्त्री, पुरुष, गरीब, धनवान, तरुण, वृद्ध इत्यादि भेदभाव का उस पर असर नहीं होने पाता । इतनाही नहीं, किन्तु नाटक के विविध वेषों से उसे बड़ा आनन्द मालूम होता है । परन्तु जब अज्ञान से खुद को भूलकर नाटक में किया हुआ पात्र ही वास्तव में मैं हूँ, ऐसा वह मान लेता है और सब नाटक को ही सत्य समझने लगता है, तब उसपर नाटक की विषमता का असर होकर उस का जीवन दुःखमय होता है ।

“ यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पंदते मायया मनः ।
तथा जाग्रद् द्वयाभासं स्पंदते मायया मनः ॥
अव्दयं च व्दयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः ।
अव्दयं च व्दयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥
मनोदृश्यमिदं व्दैतं यत्किंचित्सचराचरम् ।
मनसोह्यमनीभावे व्दैतं नैवोपलभ्यते ॥ ”

जिस प्रकार स्वप्न में द्वैत का आभास मन में माया के कारण होता है उसीप्रकार चराचर वस्तु में जो द्वैत दिख रहा है वह मन के कारण ही दिखाई देता है। मन का मनोभाव नष्ट हो जाय तो द्वैत (विषमता) नष्ट हो जाता है।

" स्वप्नमाये यथा दृष्टे गंधर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदांतेषु विचक्षणैः ॥ "

स्वप्न और माया जिस प्रकार ज्ञाता को मिथ्या माल्म पड़ते हैं, आकाश में गंधर्वनगर जैसा मिथ्या है, उसी प्रकार वेदान्तज्ञानियों को यह विश्व मिथ्या माल्म देता है।

" यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवंति न भवंति च ॥
योस्ति कल्पितसंवृत्या परमार्थेण नास्त्यसौ।
परतन्त्राभिसंवृत्त्या स्यात्रास्ति परमार्थतः ॥ "

जिस प्रकार जीवात्मा स्वप्न में जीना–मरना, सुख–दुःख, इत्यादि सब व्यवहार अपने मन से ही उत्पन्न किया करता है और अज्ञान से सुखी–दुःखी होता है और जागृत अवस्था होने पर स्वप्न की सब बातें मिथ्या प्रतीत होने से फिर आनंदित होता है, उसी प्रकार जीवात्मा जब तक अपने को देहरूप समझता है तब तक जगत्-प्रपंच उसे विषयरूप भासमान होकर वह सुखी–दुःखी होता है। यह सब उस के अज्ञान की कल्पना मात्र है। उस का अज्ञान नष्ट होने पर विषमता दूर होकर उसे जगत् आनन्दमय माल्म होता है।

प्र०—जीवात्मा किसे कहते हैं ?

उ०—" **अविद्योपाधिः सन् आत्मा जीव उच्यते।** " [शांकरभाष्य]

" **स ईशो यद्वशे माया। स जीवो यस्तयाऽऽवृतः ॥** " [पिंगल तन्त्र]

अविद्या की उपाधि से युक्त माया के आधीन जो आत्मा है उसे जीव कहते हैं।

प्र०—जीवात्मा कितने कोषों से बद्ध है ?

उ०—जीवात्मा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँच कोषों से बद्ध है। इस के अतिरिक्त और एक कोष है उसे हिरण्यमय कोष कहते हैं।

प्र०—अन्नमय कोष किसे कहते हैं ?

" **अन्नरसेनैव भूत्वा अन्नरसेनैव वृद्धिं प्राप्य अन्नरूपपृथिव्यां यद्वि-लीयते तदन्नमयः कोशः ।** " [तत्त्वबोध]

जो अन्नरस से पैदा होकर अन्नरस से ही वृद्धि को प्राप्त होता है और अन्नरूप पृथ्वी में विलीन हो जाता है, वह अन्नमय कोष है । इस को स्थूलशरीर कहते हैं ।

उ०—प्राणमय कोष किसे कहते हैं ?

उ०—" **प्राणादि पंचवायवः वागादीन्द्रियपंचकं प्राणमयः ।** " [तत्त्वबोध]

प्राण आदि पाँच प्रकार के वायु और वागादि पाँच कर्मेन्द्रियों के समूह को प्राणमय कोप कहते हैं ।

प्र०—मनोमय कोष किसे कहते हैं ?

उ०—" **मनश्च ज्ञानेंद्रियपंचकं मिलित्वा भवति स मनोमयः कोशः ।** " [तत्त्वबोध]

मन और पंचज्ञानेन्द्रिय-समूह को मनोमय कोप कहते हैं ।

प्र०—विज्ञानमय कोष किसे कहते हैं ?

उ०—**बुध्दिश्च ज्ञानेंद्रियपञ्चकं मिलित्वा यो भवति स विज्ञानमयः कोशः ।** " [तत्त्वबोध]

बुद्धि और पञ्चज्ञानेन्द्रियसमूह को विज्ञानमय कोप कहते हैं ।

प्र०—आनन्दमय कोप किसे कहते हैं ?

उ०—" **एवमेव कारणशरीरभूताविद्यास्थमलीनसत्वं प्रियादिवृत्ति-सहितं सत् आनन्दमयः कोशः ।** " [तत्त्वबोध]

कारणशरीर से सम्बन्धित, अविद्या से मलिन, सत्वयुक्त और सुख-दुःखादि द्वंद्व-युक्त कोप को आनंदमय कोष कहते हैं ।

प्र०—हिरण्यमय कोष किसे कहते हैं ?

उ०—"**हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।**" (मुण्डक.२।२।९)

यह हिरण्यमय कोष ही जीव का सूक्ष्मतम और श्रेष्ठतम कोष है । इसी लिए उसे ' परे कोषे " लिखा गया है ।

प्र०—क्या सब जीवसृष्टि में इन पाँच कोषों का विकास रहता है ?

उ०—उद्भिज्ज—अवस्था से ही जीवसृष्टि आरम्भ होती है। उद्भिज्ज से लेकर उच्चतम कोटि के समस्त जीव तक पञ्चकोषों की स्थिति रहती है। केवल निम्न कोटि के जीवों में सब कोषों का विकास नहीं रहता। वह विकास जीव की उन्नति के साथ २ होता जाता है। तदनुसार उद्भिज्ज में केवल अन्नमय कोष का विकास, स्वेदज में अन्नमय और प्राणमय दोनों कोषों का विकास, अण्डज में अन्नमय, प्राणमय और मनोमय इन तीनों कोषों का विकास, जरायुज पशुओं में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोषों का विकास और मनुष्य में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषों का विकाश रहता है।

प्र०—जीवात्मा कितने प्रकार के शरीरों से बद्ध रहता है ?

उ०—स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और कारण शरीर इन तीन प्रकार के शरीरों से जीवात्मा बद्ध रहता है।

प्र०—स्थूलशरीर किसे कहते हैं ?

उ०—"**पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतैः कृतं सत्कर्मजन्यं सुखदुःखादिभोगायतनं, अस्ति जायते वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यतीति षड्विकारयुक्तं यत्तत् स्थूलशरीरम्।**"

पंचीकृत पंचमहाभूत से बना हुआ, कर्मों से उत्पन्न और सुखदुःखादि भोगोंका जो स्थान है अर्थात् जिस के द्वारा सुखदुःखादि भोग होते हैं, एवं जो वर्तमान है, उत्पन्न होता है, बढता है, परिणाम को प्राप्त होता है, क्षय होता है और नाश होता है, इन छह भावाधिकारों से जो युक्त है वह स्थूलशरीर है। यही अन्नमय कोष कहलाता है।

प्र०—सूक्ष्मशरीर किसे कहते हैं ?

उ०—"**अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतैः कृतं सत्कर्मजन्यं सुखदुःखादिभोगसाधनं पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पंचप्राणादयः मनश्चैकं बुद्धिश्चैका, एवं सप्तदशकलाभिः सह यत्तिष्ठति तत्सूक्ष्मशरीरम्।**"

अपंचीकृत पंचमहाभूतों से बना हुआ, कर्मों से उत्पन्न और सुखदुःखादि भोगों का जो साधनरूप है, एवं पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, एक मन और एक बुद्धि इस प्रकार सत्रह कलाओं से जो बना हुआ है, वह सूक्ष्म-शरीर है। इस में प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोषों का, समावेश है। अतएव उक्त कोषों का समुदाय सूक्ष्मशरीर है।

प्र०—कारणशरीर किसे कहते हैं ?

उ०—"**अनिर्वाच्यानाद्यविद्यारूपं स्थूलसूक्ष्मशरीरकारणमात्रं सत् स्वस्वरूपाज्ञानं निर्विकल्पकरूपं यदस्ति तत् कारणशरीरम्।**"

अनिर्वचनीय, अनादि, अविद्यारूप, स्थूल और सूक्ष्म शरीर का कारणमात्र, अपने स्वरूप का अज्ञानस्वरूप एवं निर्विकल्पक रूप जो है, वही कारण शरीर है। कारणशरीर का सम्बन्ध चिज्जडग्रन्थि से है। इसी को आनंदमय कोष भी कहते हैं।

प्र०—इन शरीरों से सम्बद्ध आत्मा की कौन २ अवस्थाएँ हैं ?

उ०—"**प्राज्ञस्तु कारणात्मा स्यात् सूक्ष्मदेही तु तैजसः।**
स्थूलदेही तु विश्वाख्यस्त्रिविधः परिकीर्तितः॥
एवमीशोऽपि संप्रोक्त ईशसूत्रविराट्पदैः।
प्रथमो व्यष्टिरूपस्तु समष्ट्यात्मा परः स्मृतः॥" (देवीभागवत)

कारणशरीर में स्थित आत्मा को प्राज्ञ कहते हैं। सूक्ष्मशरीर में स्थित आत्मा को तैजस कहते हैं और स्थूलशरीर में स्थित आत्मा को विश्व कहते हैं। इसी को क्रमानुसार ईश, सूत्र और विराट् भी कहते हैं। वेदान्तशास्त्र में जो आत्मा की जागृत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इन चार दशाओं का वर्णन है उनमें से जागृत-दशा में स्थूलशरीर के साथ और स्वप्नदशा में सूक्ष्मशरीर के साथ आत्मा का अभिमान-सम्बन्ध रहता है। सुषुप्ति की दशा में कारण शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध रहता है, और तुरीयावस्था में आत्मा का ब्रह्मभाव में अवस्थान रहता है।

प्र०—जीवात्मा को उद्भिज्जयोनि से मनुष्ययोनि प्राप्त करनें में कौन २ सी योनि धारण करना पडती है ?

उ०—" स्थावरे लक्षविंशत्यो जलजं नवलक्षकम् ।
क्रुमिजं रुद्रलक्षञ्च पक्षिजं दशलक्षकम् ॥
पश्वादीनां लक्षत्रिंशच्चतुर्लक्षञ्च वानरे ।
ततोपि मानुषा जाताः कुत्सितादेर्द्विलक्षकम्
उत्तमाच्चोत्तमं जातमात्मानं यो न तारयत् ॥
स एवात्मघाती स्यात्पुनर्यास्यति यातनाम् ॥ "
(बृहद्विष्णुपुराण)

जीवभाव के विकास के बाद प्रथम योनि उद्भिज्जों की है, उस में प्रत्येक जीव को २० लाख बार जन्म लेना पडता है। तदनन्तर ११ लाख बार जीव को स्वेदज अर्थात् मैले से उत्पन्न क्रुमिकीटादि की योनि प्राप्त करना पडती है। तदनन्तर १९ लाख बार जीव को अण्डज अर्थात् अण्डे से उत्पन्न होनेवाले जीवों की योनि प्राप्त करना पडती है। उस में ९ लाख बार जल मे उत्पन्न अण्डजयोनि जीव को प्राप्त होती है। तदनन्तर ३४ लाख बार जीव को पशुयोनि में भ्रमण करना पडता है, उस में अन्तिम ४ लाख बार वानर योनि में जन्म होता है। इस प्रकार ८४ लाख योनि में भ्रमण कर जीव मनुष्य योनि को प्राप्त करता है।

प्र०—जीव उद्भिज्ज से मनुष्ययोनि प्राप्त करने तक किस कर्मद्वारा भिन्न २ योनियों में संचालित होते हैं?

उ०—" सम्बन्धः कर्मणास्तिष्ठेत् सहजं कर्म तन्मतम् ।
जंगमस्थावरसृष्टेर्मूलं कर्मैतदीरितम् ॥
असंख्या देवनिचयाश्चालका अस्य कर्मणः ।
परिणामः स्थावरेषु क्रमान्मर्त्येतरेषु हि ॥
जंगमेषु जीवेषु या क्रमोन्नतिरीदृशी ।
जायते कारणं तत्र प्रभवो ह्यस्य कर्मणः ॥ " (संन्यासगीता)

जीव उद्भिज्ज की श्रेणियों से मनुष्ययोनि प्राप्त करने तक सहजकर्म के द्वारा संचालित होता है। स्थावर और जंगम सृष्टि का मूलभूत यहि कर्म कहा गया है। असंख्य देवतागण इस कर्म के संचालक हैं। स्थावर में जो क्रमपरिणाम और मनुष्येतर उद्भिज्ज स्वेदज आदि जंगम जीवों में जो क्रमोन्नति होती है, उस का

कारण इस सहजकर्म का ही प्रभाव है। उद्भिज्ज से मनुष्ययोनि में आनेतक जीव की उत्क्रान्ति सृष्टिनियमानुक्रम से बराबर होती रहती है। इस में जीव स्वतंत्र-रूप से सृष्टिनियम का उल्लंघन नहीं कर सकता।

प्र०—जीव के मनुष्ययोनि को प्राप्त करने के बाद उस की उत्क्रान्ति किस प्रकार होती है ?

उ०—मनुष्य योनि में आते ही जीव में बुद्धि-तत्व का विशेष विकाश हो जाने से स्वशरीर और इन्द्रियों पर जीव का स्वामित्वभाव उत्पन्न हो जाता है। इसी लिए जीव मनुष्ययोनि में आकर स्वेच्छा से इन्द्रियों की सेवादि द्वारा अपना संस्कार स्वयं उत्पन्न करने लगता है और ब्रह्माण्ड-प्रकृति की [सृष्टि की] क्रमोर्ध्वगातिशील सहज-कर्मजनित संस्कार-धारा को छोड़ देता है। और अपने उत्पन्न किये हुए अच्छे-बुरे संस्कारों के अनुसार कभी उन्नत कभी अवनत होता हुआ अनेक योनियों को प्राप्त करता रहता है।

" पिण्डसम्बन्धि यत्कर्म मनुष्यैर्व्यष्टिरूपतः।
कृतं सद्भिस्तत्वविद्भिर्जैवं कर्म तदुच्यते ॥
नरादयः स्वतन्त्रावै जीवा एतस्य कर्मणः।
निरन्तरं सर्वथैव भवन्ति फलभोगिनः ॥ " (संन्यासगीता)

पिण्ड के साथ सम्बन्धयुक्त और व्यक्तिरूप से मनुष्यों के द्वारा किये हुए कर्म को जैव कर्म कहते हैं। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, इस लिए वे अपने किये हुए शुभाशुभ सभी कर्मों के फलभोगी होते हैं।

प्र०—जीवात्मा जगत् के सुखदुःखो के फंदे में क्यों फँस जाता है ?

उ०—**" काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवित तत्क्रतुर्भवति। यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते। "**

(बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।५)

यह जीवात्मा काममय है, उस की जैसी इच्छा होती है वैसा ही वह निश्चय करता है। जैसा निश्चय करता है वैसा ही वह कर्म करता है और जैसा कर्म करता है वैसा ही उसे फल मिलता है।

प्र०—जीवात्मा को बद्ध करनेवाले गुण [काम] कितने प्रकार के हैं ?

उ०—" त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ " [१७।२ भ.गीता]

जीवों के सात्विक, राजस और तामस ये तीन प्रकार के स्वाभाविक काम रहते हैं और इन्हीं से वह बद्ध रहता है ।

" सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ " (१४।५ भ.गीता)

प्रकृति से पैदा हुए सत्व, रज, तम गुण देह में रहनेवाले निर्विकार आत्मा को देह में बाँध रखते हैं ।

प्र०—सत्व, रज और तम गुणों का परिणाम क्या होता है ?

उ०—" तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौंतेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ " (१४।६-८ भ.गीता)

सत्व गुण निर्मल होने के कारण प्रकाश करनेवाला और उपद्रवरहित है । सत्वगुण सुख और ज्ञान की इच्छा से जीवों को बद्ध करता है । रजोगुण प्रीति-स्वरूप है । अभिलाषा और आसक्ति से वह पैदा होता है । रजोगुण कर्म के साथ जीव को बद्ध करता है । तमोगुण अज्ञान से पैदा होता है और वह जीवों को मोह के वश करता है । प्रमाद, आलस्य और निद्रा आदि से वह जीवों को बद्ध करता है ।

" सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ " (१४।९ भ. गीता)

सत्वगुण सुख में आनन्द प्राप्त करता है, रजोगुण कर्म में आनन्द प्राप्त करता है और तमोगुण प्रमाद में आनन्द प्राप्त करता है ।

प्र०—जीव को सुख-दुःखादि परिस्थिति क्यों प्राप्त होती है ?

उ०—जीव को अपने पूर्वजन्म के संचित कर्म के अनुसार सुख-दुःखादि की परिस्थिति प्राप्त होती है ।

प्र०—कर्म कितने प्रकार के हैं ?

उ०—संचित, प्रारब्ध और आगामी, ये तीन प्रकार के कर्म हैं ।

प्र०— संचित कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—" **अनंतकोटिजन्मनां बीजभूतं सत् यत्कर्मजातं पूर्वार्जितं तिष्ठति तत्संचितं ज्ञेयम् ।** " (तत्वबोध)

अनन्तकोटि जन्म में किये हुए कर्म के संस्कार बीजरूप से जीव के साथ रहते हैं, उन्हें संचित कर्म कहते हैं ।

प्र०—प्रारब्ध कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—" **इदं शरीरमुत्पाद्य इह लोके एवं सुखदुःखादिप्रदं यत्कर्म तत् प्रारब्धम् ।** " (तत्वबोध)

संचितकर्म में से वर्तमान जन्म में भोगने के लिए जो हिस्सा जीव के जन्म के साथ आता है, उसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं ।

प्र०—आगामी कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—" **ज्ञानोत्पत्त्यनंतरं ज्ञानिदेहकृतं पुण्यपापरूपं कर्म यदस्ति तदागामीत्यभिधीयते ॥** " (तत्वबोध)

ज्ञान होने के बाद जीवन्मुक्त के जो अवशेष कर्म रहते हैं उन्हें आगामी कर्म कहते हैं ।

प्र०—क्रियमाण कर्म किसे कहते हैं ?

उ०—जिस प्रारब्ध कर्म के अंश को जीवात्मा भोगना आरम्भ कर देता है उस अंश को क्रियमाण कर्म कहते हैं ।

प्र०—संचित कर्म किस प्रकार से नष्ट हो सकते हैं ?

उ०—" **संचितं कर्म ब्रह्मैवाहमिति निश्चयात्मकज्ञानेन नश्यति ।** " (तत्वबोध)

संचित कर्म जीव को 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान होने से नष्ट हो जाते हैं।

प्र०—आगामी कर्म किस प्रकार नष्ट होते हैं ?

उ०—"**आगामि कर्मापि ज्ञानेन नश्यति।**
किंच आगामिकर्मणां नलिनीदलगतजलवत्
ज्ञानिनां सम्बन्धो नास्ति ॥" (तत्वबोध)

आगामी कर्म भी ज्ञान होने से नष्ट हो जाते हैं। किन्तु आगामी कर्म का ज्ञानी के साथ सम्बन्ध ही नहीं रहता। जैसे जल में कमल होनेपर भी वह जल से लिप्त नहीं रहता, उसी प्रकार ज्ञानी आगामी कर्म में लिप्त नहीं रहता।

प्र०—प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों का नाश किस प्रकार से हो सकता है ?

उ०—"**प्रारब्धकर्मापि ज्ञानेन नश्यति। न तु आरब्धकार्ये सामिभुक्तफले याभ्यामेतत् ब्रह्मज्ञानायतन जन्म निर्मितम् ॥**"

प्रारब्ध कर्म भी ज्ञान होने से नष्ट होता है। परन्तु क्रियमाण कर्म भोगे बिना नष्ट नहीं होता।

प्र०—मनुष्यशरीर छोड़ने के बाद जीवात्मा कहाँ जाता है ?

उ०—"**सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः।**" (ब्रह्मसूत्र ४।२।९)

मरने के बाद जीवात्मा सूक्ष्मशरीर के साथ परलोक में जाता है।

"**शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।**
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥" (भ. गीता १५।८)

शरीर का त्याग करने पर जीवात्मा, जैसे वायु गन्ध को लेकर जाता है, वैसे सब इन्द्रियों सहित मन को लेकर जाता है।

प्र०—बाद में जीवात्मा का क्या होता है ?

उ०—"**पूर्वदेहं परित्यज्य जीवः कर्मवशानुगः।**
स्वर्गं वा नरकं वापि प्राप्नोति स्वकृतेन वै ॥
दिव्यं देहं च सम्प्राप्य यातनादेहमथवा।
भुनक्ति विविधान् भोगान् स्वर्गे वा नरकेऽथवा ॥

भोगान्ते च यदोत्पत्तेः समयस्तस्य जायते।
तदैव संचितेभ्यश्च कर्मभ्यः कर्मभिः पुनः॥
योजयत्येव तं कालः...... ।" (देवीभागवत ४।२९।२२।२५)

देह का त्याग करने के उपरान्त जीवात्मा अपने कर्मानुसार स्वर्ग या नरक में जाता है। दिव्य देह धारण कर के अनेक प्रकार के सुख स्वर्ग में भोगता है या कष्टरूप देह धारण कर के अनेक प्रकार के दुःख सहता है। भोग के अनन्तर फिर अपने संचित कर्मानुसार जन्म लेता है।

"योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥" (कठोपनिषद् ५।७)

यह जीवात्मा अपनी इच्छा के अनुसार शरीर धारण करने के लिए जननेन्द्रिय में प्रवेश करता है या वृक्षादि स्थावरभाव को प्राप्त होता है। जैसा २ कर्म किया हो या जैसा २ ज्ञान हो वैसी २ सब को अवस्था प्राप्त होती है।

"तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिंगं मनो यत्र निषक्तमस्य।
प्राप्यंतु कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्॥
तस्माल्लोकात्पुनरत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानः।"
[बृहदाण्यकोपनिषद् ४।४।१०]

मन जिस जगह आसक्त हो चुका हो, उस स्थान में आसक्ति रख कर उस के अनुरूप कर्म कर के जीवात्मा उसी स्थान को प्राप्त करता है, जीवात्मा इस लोक में जितने भी कर्म करता है, उन सब का फल भोगने के बाद परलोक से फिर यहाँ कर्म करने के लिए वापिस आता है।

प्र०—जीवात्मा को एक बार सृष्टिनियमानुक्रम से मनुष्ययोनि प्राप्त कर लेने के पश्चात् अपने पापकर्मों से यदि फिर नीचे की योनि प्राप्त हो तो उसे क्या फिर मनुष्य-योनि प्राप्त कर लेने के लिये समस्त योनियों में पहले की तरह भ्रमण करना पडता है?

उ०—जीवात्मा को सृष्टिक्रम के अनुसार उद्भिज्ज से मनुष्ययोनि प्राप्त कर लेने पर उस की सब तरह से उत्क्रान्ति हो जाने से वह सहजकर्म से सदैव के लिए छूटकर स्वतन्त्र हो जाता है और वह अपने पुण्य और पाप कर्म से उच्चनीच

योनि स्वेच्छा से भोग सक्ता है। एक बार पाप कर्मों से यदि वह पशु आदि नीच योनि प्राप्त कर ले तो वह दशा उस की सजा की दशा समझी जायगी। दूसरे जन्म में उसे, मनुष्यत्व प्राप्त करने के लिए पशुओं से मनुष्य बनने तक जो स्वाभाविक क्रमोन्नति की शैली है, उस को पालन करने की आवश्यकता नहीं होगी। अर्थात् उस का पशुदेह नष्ट होते ही वह सीधा अपनी पूर्व अवस्था के मनुष्य अथवा देवता आदि के देह में जहाँ से आया था वहाँ पहुँच सकेगा।

प्र०—पुण्य और पाप किसे कहते हैं ?

उ०—आत्मोन्नति में सहायक कर्म को पुण्य और आत्मोन्नति में बाधा पहुँचाने-वाले कर्म को पाप कहते हैं।

प्र०—जन्म-मरण में फँसा हुआ जीवात्मा किन २ लोकों में घूमता रहता है।

उ०—" अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति।" (बृहदारण्यकोपनिषद् १।५।१६)

जन्म-मरण में फँसा हुआ जीवात्मा मनुष्य, पितृ और देव इन तीन लोकों में भ्रमण करता रहता है।

प्र०—स्थूलशरीर में मनुष्य इन तीन लोकों का अनुभव किस स्थिति में कर सकता है ?

उ०—जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं का सादृश्य होने से स्थूलशरीरस्थ जीवात्मा इन लोकों का अनुभव कर सकता है।

प्र०—जीवात्मा को जन्म-मरण के फंद में कब तक रहना पड़ता है ?

उ०—" उपाधिभेदाज्जीवेश्वरभेददृष्टिर्यावत्पर्यंतं तिष्ठति तावत्पर्यंतं जन्ममरणादिरूपसंसारो न निवर्तते ॥" (शांकरभाष्य)

उपाधिभेद के द्वारा जीवात्मा को जबतक परमेश्वर के साथ खुद के एकत्व का अनुभव नहीं होता, तबतक उसे इस संसार में रहना पड़ता है।

" मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।"

(बृहदारण्यक उपनिषद्)

जबतक जीवात्मा इस जगत् में अपने से भिन्नत्व देखता है तबतक इस जन्म-मरण के फन्दे में फँसा रहता है। जब वह चराचरवस्तु में एकत्व का अनुभव करने लगता है तब वह मुक्त होजाता है।

" यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत " (बृ. उ.)

हृदय में रहनेवाली सब इच्छाएँ जब पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती हैं तब जीवात्मा मृत्युरहित होजाता है।

प्र०—इस ब्रह्माण्ड में कितने लोक हैं ?

उ०—" पातालात् ब्रह्मलोकान्तं ब्रह्माण्डं परिकीर्तितम्।
तत ऊर्ध्वं च वैकुण्ठो ब्रह्मांडाद् बहिरेव सः॥
तत ऊर्ध्वं च गोलोकः पञ्चाशत् कोटियोजनः।
नित्यसत्यस्वरूपश्च यथा कृष्णस्तथाप्ययम्।"
" ऊर्ध्वं धराया भूर्लोको भुवर्लोकस्ततः परः।
ततः परश्च स्वर्लोको जनलोकस्ततः परः॥
ततः परस्तपोलोकः सत्यलोकस्ततः परः।
ततः परो ब्रह्मलोकस्तप्तकाञ्चनसन्निभः॥"
" एवं सर्वं कृत्रिमञ्च बाह्याभ्यन्तरमेव च।
तद्विनाशे विनाशश्च सर्वेषामेव नारद॥
जलबुद्बुद्वत् सर्वं विश्वसंघमनित्यकम्।
नित्यौ गोलोकवैकुण्ठौ प्रोक्तौ शाश्वदकृत्रिमौ॥"
(देवीभागवत ९।८ से १०-१२ से १६)

पाताल से ब्रह्मलोकतक सब को ब्रह्माण्ड कहते हैं। उस के ऊपर विष्णुलोक है और वह ब्रह्माण्ड के परे है। उस के ऊपर गोलोक है।

इस धर्तीपर भू-लोक है। इस के ऊपर भुवर्लोक है। उस के परे स्वर्लोक, जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक और उस के परे तेजस्वी ब्रह्मलोक है। यह सब लोक परस्पर मिले हुए हैं।

एकका नाश होने से सब का नाश हो जाता है। इन सब लोकों का समूह जल के बुलबुलों के समान है। गोलोक और विष्णुलोक ये अविनाशी हैं।

प्र०—स्थूलशरीर के साथ किस लोक का सम्बन्ध है ?

उ०—स्थूलशरीर के साथ भूलोक का सम्बन्ध रहता है।

प्र०—सूक्ष्मशरीर के साथ किस लोक का सम्बन्ध है ?

उ०—सूक्ष्मशरीर के साथ भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक और महर्लोक का सम्बन्ध है।

प्र०—कारणशरीर के साथ किस लोक का सम्बन्ध है ?

उ०—कारणशरीर के साथ जनलोक, तपोलोक, और सत्यलोक का सम्बन्ध है।

प्र०—मृत्यु के पश्चात् किन २ मार्गों से जीव की उत्क्रान्ति होती है।

उ०—मृत्यु के पश्चात जीव की उत्क्रान्ति के दो मार्ग हैं; उत्तर मार्ग और दक्षिण मार्ग। इन को ही देवयान और पितृयान कहते हैं।

"यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिञ्चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥
अग्निज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः॥"

(८।२३-२६ गीता)

हे भरतश्रेष्ठ, किस समय देह त्याग करने से मनुष्य फिर मर्त्यलोक में वापिस आते हैं और किस समय देह त्याग करने से फिर मनुष्य वापिस नहीं आते हैं, वह मैं बतलता हूँ। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण में प्रयाण

करनेवाले ब्रह्मविद् ब्रह्म में मिल जाते हैं। धुआँ, रात, कृष्णपक्ष और दाक्षिणायन में प्रयाण करनेवाले चन्द्र की ज्योति में मिलते हैं और फिर लौट आते हैं। संसार की नित्य चलनेवाली शुक्ल और कृष्ण दो गतियाँ हैं। एक गति से जानेवाले को लौटना नहीं पड़ता और दूसरी गति से जानेवाले को लौटना पड़ता है।"

यहाँ पर जो जीव की उत्क्रान्ति की दो गतियाँ या मार्ग बतलाये गये हैं, उन का सारांश कुछ और ही है। यह नहीं कि जो मनुष्य पूर्ण ब्रह्मज्ञानी है, अगर वह रात्रि, कृष्णपक्ष या दाक्षिणायन काल में देहत्याग करे तो उसे फिर भूलोक में लौट आना पड़ेगा। और कोई अज्ञानी दिन में, शुक्लपक्ष में और उत्तरायण में देहत्याग करे तो उसे फिर लोटना न पड़ेगा। यदि यह बात इसी रूप में मानी जायगी तब तो ज्ञान से काल का ही महत्व विशेष हो जायगा, ज्ञान का कुछ भी महत्व नहीं रहेगा। फिर ज्ञानप्राप्ति की भी कोई जरूरत नहीं, अज्ञान—अवस्था में भी उपरोक्त शुक्ल गाति के अनुकूल काल में देहत्यागने से जन्म—मरण की झंझट छूट सकती है। परन्तु यह केवल रूपक मात्र है, शुक्लकृष्ण का वास्तविक सम्बन्ध मनुष्य के ज्ञान और अज्ञानमय भाव से है।

मरते समय जीव यदि अज्ञान से वासनाओं में लिप्त रहे तो वह पितृयान अर्थात् कृष्णमार्ग से गमन करता है और फिर अपने २ पुण्यपापरूपी अच्छे-बुरे कर्मों का स्वर्गनरकादि फल भोगकर फिर अपनी इच्छापूर्ति के लिए मृत्यु-लोक में आता है। इस जीव का वासनारूप मनोमय कोष नष्ट नहीं होता। अर्थात् चन्द्रलोक (मनोमय कोष)से जीव फिर स्थूलशरीर धारण करता है। मरते समय जीव यदि ब्रह्मज्ञान के द्वारा सब वासनओं से रहित हो जाय तो वह देवयान अर्थात् शुक्ल मार्ग से गमन करता है और वासनारहित होने से क्रम से उन्नति करता हुआ ब्रह्मतक पहुँच जाता है। देवयान मार्ग से जानेवाले जीव में वासना [इच्छा] न रहने से उस की उन्नति में रुकावट नहीं होती वह उत्क्रान्ति करते २ सीधा ब्रह्मतक चला जाता है।

प्र०—हिन्दूधर्म में सब से पवित्र शद्ब कौन सा है ?

उ०—“ **सर्वे वेदा यत्पदमामनंति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत् ।** ”

(कठोपानिषद्)

सब वेद जिस पद का प्रतिपादन करते हैं, सब प्रकार के तप जिसे प्राप्तव्य बतलाते हैं, जिस की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उसे मैं थोडे में बतलाये देता हूँ, वह पद है—ॐ ।

“ **एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम् ।**
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ ”

(कठोपनिषद्)

यही अक्षर ब्रह्म है, यही परम अक्षर है और इसी अ—क्षर (शाश्वतब्रह्म) को जान लेने से जिस को जो इच्छा हो उसे वही प्राप्त होता है ।

“ **कार्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत्स्पन्देन सव्यापकम् । स्पंदश्चापि तथा जगत्सु विदितः शद्बान्वयी सर्वदा ॥ सृष्टिश्चापि तथादिमाकृतिविशेषत्वादभूत्स्पंदिनी शद्बश्चोदभवत्तदा प्रणव इत्योंकाररूपः शिवः ॥ साम्यस्थप्रकृतेर्यथैव विदितः शद्बो महानोमिति ।** ”

जहाँ कर्मरूप से कुछ है वहाँ कम्पन अवश्यही होना चाहिए और जहाँ कम्प है वहाँ शद्ब अवश्य ही रहाना चाहिए । सृष्टि-क्रिया एक प्रकार का कार्य है । इस लिए सृष्टिकार्य के समय प्रकृतिस्पंदन से पहले जो शद्ब पैदा होता है वही यह मंगलमय ॐकार प्रणव है । जब सत्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था से वैषम्य अवस्था होनी प्रारम्भ हुई तब उस समय जो पहले धक्का लगा या कम्प पैदा हुआ और तीनों गुणों में एकसमयावच्छेद करके गति हुई और उस से जो ध्वनि निकली वही ॐकार है ।

"**सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोंकारः ।**" (मांडूक्योपनिषद् ६-८)

जिस आत्मा का वर्णन अक्षर द्वारा किया जाता है वह अक्षर ॐ ही है ।

"**एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेते नैवायतने नैकतर मन्वेति ।**" (प्रश्नोपनिषद् ४-५-२)

ॐकाररूपी ब्रह्म दो प्रकार का है एक पर और दूसरा अपर । *ॐकार* का ध्यान करने से मनुष्य की आत्मा ब्रह्मरूप हो जाती है ।

"**ओंकार एवेदं सर्वमोंकार एवेदं सर्वम् ।**" (छांदोग्योपनिषद्)

ॐकार ही सब कुछ है और जो सब है वही ॐकार है ।

"**ओमिति ब्रह्म, ओमितीदं सर्वम् ।**" (तैत्तिरीय उपनिषद् ७-८-१)

ॐकार ही ब्रह्म है और समस्त विश्व है ।

"**ओमित्येदक्षरामिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव ।**" (मांडुक्योपनिषद् ६-१)

यह सब विश्व ॐकारमय है । भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीनों काल तथा तीनों कालों से अतीत सब कुछ ॐकार ही है ।

"**अव्यवहार्यःप्रपंचोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥**" [मांडूक्योपनिषद् ६-१२]

अव्यवहार्य, प्रपंच से निवृत्त, कल्याण और अद्वैतरूप ॐ कार अपना आत्मा है ऐसा जो समझता, वह परब्रह्म--स्वरूप हो जाता है ।

"**ॐ इत्येतदक्षरामिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ।**"

[मांडूक्योपनिषद् ६।१]

यह सब (विश्व) ॐ कार है । भूत, वर्तमान और भविष्य सब ॐ कार ही है । त्रिकालातीत जो कुछ अन्य हो वह भी ॐ कार ही है ।

" युंजीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् ।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥ "

(गौडपाद कारिका १-२५)

ॐकार अर्थात् प्रणव को अन्तःकरण में रखे । प्रणव ही भयरहित ब्रह्म है । प्रणव में जो सदा के लिए लीन हो जाता है, उस को कही भी तनिक भय नहीं रहता ।

" सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च ।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ॥ "

(गौ. का. १-२७)

प्रणव ही सब का आदि, मध्य और अन्त है । इस प्रकार प्रणव का ज्ञान होने से ज्ञाता तत्स्वरूप हो जाता है ।

" प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम् ।
सर्वव्यापिनमोंकारं मत्वा धीरो न शोचति ॥ "

(गौ. का. १-२८)

प्रणव सब प्राणियों के हृदय में स्थिर ईश्वररूप है । ॐ कार सर्वव्यापि है ऐसा ज्ञान होने से मनुष्य का शोक नष्ट हो जाता है ।

" ओमित्येदक्षरं परं ब्रह्म तदेवोपासितव्यम् ॥ [तारासार]

ॐ परब्रह्म का व्यक्त स्वरूप है, इसकी ही उपासना करनी चाहिए ।

॥ ॐ तत् सत् ॥

सद्गुरूपनिषद् ।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ॐ नमस्ते भगवन्! सद्गुरुदेव! दत्तात्रेय! नमोनमः। त्वं ब्राम्हमयोऽसि। त्वमानन्दमयोऽसि। त्वं विज्ञानमयोऽसि। त्वं सत्यमयोऽसि। त्वं शान्तिमयोऽसि। त्वं प्रेममयोऽसि। त्वं निराकार--निरालम्ब--निर्विकल्प--निर्विषय--निरंजन--निरंकुश--निरातंक--निरंतर--निराश्रय--निरामय--निर्धूतकल्मषोऽसि। त्वदाज्ञया तपन्ति रविशशितारामण्डलाः। त्वदाज्ञया विपुलधनधान्यवती वसुधा। त्वदाज्ञया वहति वायुर्दहत्यनलः। त्वदाज्ञयाऽऽकाशं सर्वं व्याप्नोति। त्वदाज्ञया यथाकालं वर्षति पर्जन्यः। त्वदाज्ञया विकसन्ति कुसुमानि। त्वदाज्ञया फलन्ति पादपाः। त्वदाज्ञया गायन्ति विहंगमाः। त्वदाज्ञया जीवन्ति चतुर्विधयोनयः। त्वदाज्ञया देहे प्राणः संचरति निर्गच्छति देहात्। त्वं मनश्चित्तान्तःकरणबुद्ध्यहंकारप्रेरकोऽसि। त्वं शमदमतितिक्षावैराग्यभक्तिप्रदायकोऽसि। त्वं द्वंद्वदुःखतिमिरविध्वंसकोऽसि। त्वं मायापाशनिकृन्तकोऽसि। त्वं संसारबन्धनच्छेदकोऽसि। त्वं सर्वसद्गुणकर्ताऽसि। त्वं सर्वदुर्गुणहर्ताऽसि। त्वं शान्तिप्रदोऽसि। त्वं ज्ञानप्रदोऽसि। त्वं मुक्तिप्रदोऽसि। त्वमानंदप्रदोऽसि। त्वं प्रेमप्रदोऽसि। त्वं सकलविघ्नहरोऽसि। त्वमभयकरोऽसि। त्वं वरदवरोऽसि। त्वं निजपदप्रदानकोऽसि। ऋते त्वत् कोऽपि नेतरो वदान्यः। ऋते त्वत् कोऽपि नेतरः समर्थः। ऋते त्वत् कोऽपि नेतरो दयालुः। ऋते त्वत् कोऽपि नेतरः क्षमाशीलः। ऋते त्वत् कोऽपि नेतरो भक्तपालकः। त्वत्तः सकलैश्वर्यभोगक्षमत्वम्। त्वत्तः सकलवस्तुरमणीयत्वम्। त्वत्तः कर्मज्ञानेन्द्रियगणसमर्थत्वम्। त्वत्तः सक-

लयोगशक्तिमत्वम्। त्वत्तः परमवैराग्यपरबुद्धिमत्वम्। त्वयि समुपस्थितं ब्रह्माण्डोत्पत्तिस्थितिलयबीजम्। त्वयि सुप्रतिष्ठितं संसृतिनाशनाद्वैतभावनामूलम्। त्वयि सन्निहितं जन्ममृत्युभयसंहननसामर्थ्यम्। कनककामिनीकमनीयत्वात् त्राहि त्राहि माम्। कामक्रोधमोहमदमत्सरकोलाहलात् त्राहि त्राहि माम्। जन्मजरामरणरुद्घोषात् त्राहि त्राहि माम्। संसृतिदावानलदह्यमानं पाहि पाहि माम्। विषयकर्दमनिमज्यमानं पाहि पाहि माम्। भयकरकालदण्डनिपीड्यमानं पाहि पाहि माम्। धर्माचरणादिङ्मूढं धैर्यं देहि देहि माम्। अहंकारमलिनचित्तमभयं वरं देहि देहि माम्। त्वत्पदपंकजशरणागतिं देहि देहि माम्। विना त्वया नास्ति कोऽन्य आधारः। विना त्वया नास्ति कोऽन्य आप्तोबन्धुस्तथा सखा। विनात्वयानास्ति कोऽन्य आपत्तिनिवारकः। त्वं प्रियतम माताऽसि मे। त्वं प्रियतम पिताऽसि मे। त्वं प्रियतम बन्धुरसि मे। त्वं प्रियतम मित्रमासि मे। त्वं पूज्यतमसद्गुरुवर्योऽसि मे। ते कृपाहस्तं धेहि मे शिरसि। ते पदतलकञ्जं धेहि मे मनसि। ते सुखकरवासो रेऽस्तु मे वपुषि। अनन्तजन्मपर्यन्तं ते स्मरणं मे चित्तेऽस्तु।

ॐ नमस्तेऽत्रिपुत्राय। ॐ नमस्तेऽवधूताय। ॐ नमस्ते हंसदेवाय। ॐ नमस्ते सद्गुरुनाथाय। ॐ नमस्ते यतिनाथाय। ॐ नमस्ते शक्तिनाथाय। ॐ नमस्ते सिद्धिनाथाय। ॐ नमस्ते मुक्तिनाथाय। ॐ नमस्ते जगन्नाथाय। ॐ नमो भगवते दत्तात्रेयाय। ॐ नमस्ते परब्रह्मणे सच्चिदानन्दमूर्तये मुनिवर्याय नमोनमः।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ॐ

याचना ।

यथा जलस्योपरितैलबिन्दुर्विराजते पूर्णतया स्वतंत्रः ।
तथैव संमोहमये प्रपंचे सदाह्यसंगं कुरु मां दयालो ॥
विलासिनी स्वैरविलासलीला विलोकने धीर्मदनातुरस्य ।
मुखारविंदे तव सुप्रसन्ने तथा विलीनं कुरु मामनाथ ॥
दिवाकरो यच्छति तत्प्रकाश निःस्वार्थबुध्या वसुधातलेऽस्मिन् ।
तवांघ्रिपद्मे विमले विशुद्धं तथास्तुमे प्रेम सदा दयाब्धे ॥
यथाऽनिरुद्धः पवनः स्वतंत्रः करोति मार्गक्रमणं दिवानिशी ।
विहाय पाशं सकलं तथैव तवार्चने लीनमतिर्ममास्तु ॥
विलोक्य तेजोऽनुपमं शिखायां प्रधावति प्रेममयः पतंगः ।
तथैव हे प्रेमनिधे तवार्थं शरीरपातोऽपि भवेत्सुखाय ॥

ॐ सहनाववतु । सहनौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै ।

तेजास्विनावधीतमस्तु ।

मा विद्विषावहै ।

॥ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शीघ्र ही प्रकाशित होंगी।

ग्रन्थकर्ता की नई पुस्तकें।

गीतादर्शन।

आजतक आपने गीता पर अनेको पुस्तकें पढी होंगी; उन सब में यह पुस्तक अपने ढंग की अनूठी है। इस में आप को विचारप्रदर्शन में निरालापन ही देख पडेगा। पौर्वात्य और पाश्चात्य तत्वज्ञान, नीतिशास्त्र इत्यादि के साथ तुलनात्मक दृष्टि से गीताधर्म व्यक्ति और राष्ट्र के सुख–शांति तथा अभ्युदय के लिये कैसा साहायक है इस का विशदरूप से विवेचन आप को इस में पढने को मिलेगा।

हिन्दुधर्म का विश्वव्यापी स्वरूप।

संसार के सब धर्मों के साथ तुलना करके हिन्दूधर्म ही विश्वव्यापक कैसा है, और उस से व्यक्ति, जाति, समाज और राष्ट्र अपनी २ सर्वाङ्गिक उन्नति किस प्रकार कर सक्ते हैं, इस पर विशदरूप से प्रकाश डाला गया है।